केनोपनिषत्

पदभाष्य- जगद्गुरु आदि शंकराचार्य
टीका- आनन्द गिरी (आनन्द ज्ञान) महाराज
हिन्दी रूपान्तर - स्वामी विष्णुतीर्थ परमहंस

Published by – Sri Gurudev Ashram

First Edition – October, 2021
Copies – 100

Printed at – Graphic Art Ofset Press, At- Nuapatna, Mangalabag, Cuttack, Odisha.

Price – 121.00

Books available at –

1. Sri Gurudev Ashram, Street No – 14, Gandhi Nagar, Ludhiana, Punjab, Pin – 141008, Mob No – 7902057864
2. Sri Harihar Kuteer, Haripur Kalan, (Haridwar) Dist- Dehradun, Uttarakhand.

केनोपनिषत्

सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।।
। ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

वह परमात्मा हम आचार्य और शिष्य दोनों की साथ-साथ रक्षा करें तथा हम दोनों का साथ-साथ पालन करें। हम दोनों वीर्य अर्थात् विद्याजन्य सामर्थ्य का संपादन करें। अर्थात् उसकी कृपा से हम दोनों की विद्या से होने वाली शक्ति की वृद्धि हो। हम दोनों का अधीत (ज्ञान) तेजस्वी हो। और हम दोनों आपस में विद्वेष न करें। तीन बार शान्तिपाठ त्रिविध ताप की शान्ति के लिए है।

आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माऽहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु।। ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

मेरे अंग, वाणी, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, तथा बल और समस्त इन्दियाँ पुष्ट होवें। यह सब उपनिषद् वेद्य ब्रह्म ही है। मैं ब्रह्म का निरा-करण न करूँ अर्थात् उसका त्याग न करूँ अर्थात् सदा चिन्तन करूँ। और ब्रह्म मेरा निराकरण न करें अर्थात् ज्ञान प्राप्ति के लिए मुझे शक्ति प्रदान करें। न मैं ब्रह्म का त्याग करूँ न वह मेरा त्याग करें। आत्मा में निरत अर्थात् आत्मज्ञान में तत्पर मुझ में उपनिषत् के धर्म होवें। वे सब धर्म मुझमें होवे। तीन बार का शान्तिपाठ त्रिविध ताप के उपशमन के लिए है।

अथ आनन्दगिरिकृता टीका

यच्छ्रोत्रादेरधिष्ठानं चक्षुर्वागाद्यगोचरम्।
स्वतोऽध्यक्षं परब्रह्म नित्यमुक्तं भवामि तत्।।

जो श्रोत्र आदि का अधिष्ठान है, चक्षु आदि इन्द्रियों का विषय नहीं है, स्वतः अध्यक्ष है अर्थात् स्वयं प्रकाश है, नित्य मुक्त है, वह परं ब्रह्म मैं हूँ।

टीका – केनेषिता इत्यादि मंत्र वाला सामवेद के तलवकार शाखा के उपनिषद की व्याख्या की इच्छा से भाष्यकार अहंप्रत्यय का विषय आत्मा के संसारी होने से, उसका उपनिषद् प्रतिपाद्य असंसारी ब्रह्मभाव असंभव होने से, विषय न होने से व्याख्या के योग्य नहीं है, ऐसी पूर्वपक्षी की शंका उठाकर, उत्तर देते हैं कि अहंकार के साक्षी, संसारित्व ग्राहक प्रमाण का विषय न होने से, उसका ब्रह्मत्व प्रतिपादन में विरोध नहीं है। अतः सविषय होने से व्याख्येय है, यह प्रतिज्ञा करते हैं अर्थात् विषय संबन्ध आदि वाला यह उपनिषत् होने से इसकी व्याख्या होनी चाहिए – **केनेषितामित्याद्योपनिषत्परब्रह्मविषया वक्तव्येति नवमस्याध्या-यास्याऽऽरम्भः।** *परं ब्रह्म को विषय करने वाली केनेषितं इत्यादि उपनि-षत् व्याख्या के योग्य है इसलिए नवम अध्याय का आरंभ होता है।* **टीका** – तो नवम अध्याय का आठ अध्यायों के साथ, अनुपपत्ति से प्राप्त नियत पूर्व-उत्तर वाला संबन्ध क्या है, इस प्रकार आशंका होने पर, हेतु-हेतुमद्भाव लक्षण वाला संबन्ध दिखाने के लिए पीछले ग्रन्थ का अनुवाद करते हैं **प्रागेतस्मात्कर्माण्यशेषतः परिसमापितानि समस्तकर्माश्रय-भूतस्य च प्राणस्योपासनान्युक्तानि कर्माङ्गसामविषयाणि च।** *नवम अध्याय से पहले संपूर्ण रूप से कर्म भली भाँति परिसमाप्त हुए हैं। समस्त कर्मों के आश्रय रूप प्राण की उपासना भी कही गयी है। कर्मांग साम की उपासना का वर्णन भी हो चुका है।* **अनन्तरं च गायत्रसामविषयं दर्शनं वंशान्तमुक्तं कार्यम्।** *इसके बाद गायत्रसाम विषयक दर्शन, कार्य, शिष्य परंपरा कह कर समाप्त किया गया है।* **टीका** – कर्म के अंग पांचभक्तिक और सातभक्तिक साम तथा उसको विषय करने वाली उपासनाएँ पृथिवी आदि दृष्टि से कही गयी। और प्राणदृष्टि से गायत्रसाम की उपासना भी कही गयी। शिष्य और आचार्यों का अविरल

प्रवाह वंश है, आखीर को वंश परंपरा कह कर वहाँ तक कार्य रूप वस्तुओं का कथन किया गया। प्राण आदि उपासना सहित कर्मों का संसार प्राप्ति फल होने से उनका ब्रह्मज्ञान में उपयोग नहीं है, फिर आपने हेतु–हेतुमत् संबन्ध कैसे कहा ऐसी आशंका करके नित्यकर्मों का ज्ञानमें उपयोगिता दीखा रहे हैं – **सर्वमेतद्यथोक्तं कर्म च ज्ञानं च सम्यगनुष्ठितं निष्कामस्य मुमुक्षोः सत्त्वशुद्ध्यर्थं भवति।** *अष्टम अध्याय तक कहे गये कर्म और उपासनाएँ अच्छी प्रकार अनुष्ठान किये जाने पर निष्काम मुमुक्षु के अन्तःकरण शुद्धि के लिए होता है।*

टीका – उनके दोष–दर्शन से वैराग्य के लिए काम्य कर्म और निषिद्ध कर्मों का फल कहते हैं – **सकामस्य तु ज्ञानरहितस्य केवलानि श्रौतानि च कर्माणि दक्षिणमार्गप्रतिपत्तये पुनरावृत्तये च भवन्ति।** *कामना–वालों के लिए उपासना से रहित केवल श्रौत कर्म दक्षिणायन मार्ग की प्राप्ति तथा पुनरावृत्ति के लिए होता है।* **स्वाभाविक्या त्वशास्त्रीया प्रवृत्त्या पश्वादिस्थावरान्ताऽधोगतिः स्यात्।** *स्वाभाविक(अज्ञान प्रयुक्त) अशास्त्रीय प्रवृत्ति से पशु से लेकर स्थावर (वृक्ष आदि) तक अधोगति होती है।* **'अथैतयोः पथोर्नकतरेणचन, तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति। जायस्य म्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानम्।' इति श्रुतेः।** *इसमें श्रुति का प्रमाण देते हैं 'जो इन दोनों मार्गों में से किसी एक का आश्रय नहीं लेते हैं, वे बार बार लौटने वाले इन क्षुद्र प्राणि होते हैं। जन्मों और मरो, यह तीसरा मार्ग है।* **'प्रजा हि तिस्रो अत्यायमीयु' इति च मन्त्रव–र्णात्।** *तीन प्रकार की प्रजा ये दोनों मार्ग का अतिक्रमण कर तीसरा मार्ग प्राप्त करते हैं। इस प्रकार मंत्रवर्ण में कहा है।* **टीका** – इन दोनों मार्ग अर्थात् ज्ञान अथवा कर्म मार्गों में से किसी मार्ग में प्रवृत्त नहीं है अर्थात् जो प्रतिषिद्ध कर्मों का अनुष्ठान करते हैं। जायस्व म्रियस्व का अर्थ है बार बार जन्म लेते हैं और मरते हैं। वे तीन प्रकार के होते हैं स्वेदज (पसीने से उत्पन्न जूएँ आदि), अण्डज (अण्डे से पैदा होने वाले पक्षी आदि) और उद्भिदज (वृक्ष, लता आदि)। अत्यायमीयुः – अतीत्य

इयुः प्राप्ताः। पितृयाण और देवयान दोनों मार्गों का अतिक्रमण कर अर्थात् उनसे हट कर कष्ट गति को प्राप्त होते हैं।

टीका– इस प्रकार कर्मों के फल कह कर उससे विरक्त शुद्ध अन्तःकरण वाले का ब्रह्मज्ञान में अधिकार है इसे दिखाने के लिए कर्म और ज्ञान में हेतु–हेतुमद्भाव संबन्ध कहते हैं – **विशुद्धसत्त्वस्य तु निष्कामस्यैव बाह्यादनित्यात्साध्यसाधनसंबन्धादिह कृतात्पूर्वकृताद्वा संस्कारविशेषोद्भवाद्विरक्तस्य प्रत्यगात्मविषया जिज्ञासा प्रवर्तते।** *इस जन्म या पूर्व जन्मों में किये गये पुण्य कर्मों के विशेष संस्कारों के उदय होने से शुद्ध अन्तःकरण निष्काम पुरुष, साध्य–साधन संबन्ध से विरक्त, को अन्तरात्मा विषयक जिज्ञासा होती है।* **टीका** – साध्यसाधनसंबन्ध से विरक्त इस प्रकार अन्वय करना चाहिए। अदृष्ट रूप निमित्त अनियतत्त्व इह इत्यादि द्वारा कहते हैं। अर्थात् अन्तःकरण की शुद्धि में अदृष्ट अर्थात् पूर्वजन्म के कर्मफल ही कारण नहीं है, इस जन्म के कर्म भी कारण बन सकते हैं। **तदेतद्वस्तु प्रश्नप्रतिवचनलक्षणया श्रुत्या प्रदर्श्यते केनेषितमित्याद्यया।** *वह यह वस्तु (विरक्त को तत्त्व जिज्ञासा में प्रवर्तन करने वाले वस्तु अथवा जिज्ञासा के द्वारा प्रत्यगात्म स्वरूप वस्तु) प्रश्न प्रतिवचन रूप श्रुति द्वारा केनेषितं इत्यादि मंत्रों से दिखाया जाता हैं ।*

टीका – कर्मफल से विरक्त की ही ब्रह्मजिज्ञासा होती है इसमें अन्य उपनिषद वचन कहते हैं – **काठके चोक्तम् – 'परांचि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मातपराङ्पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मनमैक्ष–दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्' इत्यादि।** *कठ उपनिषत् में कहा है 'स्वयंभू ब्रह्मा जी ने (खानि) इन्द्रियों को (परांचि) बाहर की ओर बनाया है। इसलिए सभी बाहर की ओर देखते हैं, अन्तरात्मा को कोई नहीं देखता। कोई धीर पुरुष अमृतत्त्व की इच्छा से इन्द्रियों का संवरण कर अन्तरात्मा का साक्षात्कार किया।' इत्यादि।* **'परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमाया–न्नास्त्यकृतः कृतेन। तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।।' इत्याद्याथर्वणे च।** *अथर्व वेद के मुण्डकोपनिषत् में भी कहा*

है 'ब्राह्मण, कर्म से संपादित लोक अर्थात् फल की परीक्षा कर वैराग्य प्राप्त करता है। क्योंकि अकृत ब्रह्म कृत कर्मोसे प्राप्त नहीं होता। ऐसे मुमुक्षु उस आत्मतत्त्व को जानने के लिए हाथ में लकड़ी लेकर अर्थात् समर्पण भावना से श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में जाए।' **टीका** – चक्षु का ग्रहण उपलक्षण अर्थ होनेसे आवृत्तचक्षु का अर्थ है साध्यसाधन भाव से उपरत करण समुदाय।

टीका– विरक्त को ही ज्ञान होता है, यह अन्वय व्यतिरेक से सिद्ध है। इसे कहते हैं – **एवं हि विरक्तस्य प्रत्यगात्मविषयं विज्ञानं श्रोतुं मन्तुं विज्ञातुं च सामर्थ्यमुपपद्यते नान्यथा।** *इस प्रकार संसार से वैराग्य प्राप्त पुरुष को ही अन्तरात्मा को विषय करने वाला विज्ञान का श्रवण, मनन और निदिध्यासन में सामर्थ्य अर्थात् योग्यता बन सकती है अन्यथा नहीं।* **एतस्माच्च प्रत्यगात्मब्रह्मविज्ञानात्संसारबीजमज्ञानं कामकर्म–प्रवृत्तिकारणमशेषतो निवर्तते।** *इस अन्तरात्मब्रह्म के ज्ञान से कामना और कर्मों के प्रवृत्ति में कारण संसार के बीज अज्ञान पूर्ण रूप से नष्ट हो जाता है।* **'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' इति मंत्रवर्णात्।** *'गुरु मुख से श्रवण के अनन्तर एकत्व का साक्षात्कार करने वाला पुरुष में मोह और शोक कहाँ ? इस प्रकार मंत्रोपनिषद् में कहा है।* **'तरति शोकमात्मवित्' इति 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे' इत्यादिश्रुतिभ्यश्च।** *'आत्मज्ञानी शोक को पार कर जाता है'। 'पर अर्थात् हिरण्य गर्भ है अवर अर्थात् निकृष्ट जिससे वह परावर ब्रह्म के साक्षात्कार होने पर अज्ञान से होने वाली उसकी हृदय की ग्रन्थि छिन्न–भिन्न हो जाती है अर्थात् मनकी गाँठ खुल जाती है। तथा प्रारब्ध के अतिरिक्त समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं।' इन श्रुतियों से कहा है कि ज्ञान से अज्ञान और उसका कार्य का समूल नाश होता है।*

टीका – समुच्चयवादी के अभिप्राय को शंका रूप में प्रस्तुत करते हैं – **कर्मसहितादपि ज्ञानादेतत्सिध्यतीति चेत्।** *कर्म सहित ज्ञान से*

भी यह (मोक्ष) सिद्ध हो सकता है, ऐसे कहें तो ? **टीका** - शंका- (स्वाध्याय अध्येतव्यः) इस एक अध्ययनविधि से परिगृहित होने से, कर्म और ज्ञानकाण्डों का एक फल कहना चाहिए, उससे कर्मसमुच्चित ज्ञान से कारण सहित संसार की निवृत्ति रूप फल सिद्ध होगा। इसलिए कर्मों से विरक्त के लिए यह उपनिषदों का आरंभ नहीं है।

टीका- उत्तर- अध्ययन-विधि ग्रहण मात्र से कर्मकाण्ड के मोक्ष-फल की कल्पना नहीं कर सकते हो, क्योंकि कर्मों के फल (स्वर्गादि) का ज्ञान से विरोध होगा। इस बात को कहते हैं - **न। वाजसनेयके तस्यान्यकारण- त्ववचनात्।** *समुच्चय ठीक नहीं। क्योंकि वाजसनेय (बृहदारण्यकोपनिषत्) में कर्म और उपासनाओं को अलग-अलग फल के हेतु कहा है।* **'जाया मे स्यात्' इति प्रस्तुत्य 'पुत्रेणायं लोको जय्यो नान्येन कर्मणा। कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः' इत्यात्मनोऽन्यस्य लोकत्रयस्य कारणत्वमुक्तं वाजसनेयके।** *'मुझे स्त्री प्राप्त हो' यहाँ से प्रारंभ कर 'पुत्र द्वारा यह लोक प्राप्त किया जा सकता है किसी अन्य कर्मों से नहीं। कर्मों से पितृलोक और उपासना से देवलोक' इस प्रकार आत्मा से भिन्न तीन लोक की प्राप्ति का कारण कर्म और उपासना है, यह बात बृहदारण्यक में कहा है।*

टीका - और भी, यदि श्रुति को कर्म के साथ ज्ञान के समुच्चय का विधान करना होता तो, हेतु के कथन से पारिव्राज्य अर्थात् संन्यास का विधान श्रुति नहीं करती। इसलिए श्रुति का अर्थ समुच्चय नहीं है। इस बात को कहते हैं - **तत्रैव च पारिव्राज्यविधाने हेतुरुक्तः 'किं प्रजया करिष्यामः येषां नोऽयमात्माऽयं लोकः' इति।** *बृहदारण्यक में वहीं पर संन्यास विधान में हेतु कहा गया है 'हम प्रजा से क्या करेंगे क्योंकि जिन हमारे लिए यह आत्मा ही लोक अर्थात् इच्छित फल है। इस प्रकार। अर्थात् हम आत्म ज्ञान चाहते हैं इसलिए प्रजा आदि से हमें क्या काम है ?*

प्रजा शब्द उपलक्षण के अर्थ वाला है इसे लेकर हेतु का अर्थ कहते हैं- **तत्रायं हेत्वर्थः - प्रजाकर्मतत्संयुक्तविद्याभिर्मनुष्यपितृदेवलोकत्रय-साधनैरनात्मलोकप्रतिपत्तिकारणैः किं करिष्यामः।** *हेतु का यह अर्थ है। मनुष्यलोक, पितृलोक और देवलोक के साधन, तथा अनात्मलोक की प्राप्ति का कारण, प्रजा, कर्म और कर्म-संयुक्त उपासना से हम क्या करेंगे ?* **टीका** - क्या करेंगे अर्थात् कुछ भी नहीं। क्योंकि हम आत्मकाम हैं।

कर्म का फल भोग कर क्रम से मोक्ष संभव होने से प्रजा आदि में अनादर क्यों, ऐसी आशंका पर कहते हैं - **न चास्माकं लोकत्रय-मनित्यं साधनसाध्यमिष्टं येषामस्माकं स्वाभाविकोऽजोऽजरोऽमृतोऽभयो न वर्धते कर्मणा नो कनीयान्नित्यश्च लोक इष्टः।** *हमें साधनों से सिद्ध होने वाले अनित्य तीन लोक इष्ट नहीं है। हमें तो अजन्मा, अजर, अमृत, अभय नित्य लोक इष्ट है जो कर्मों से न बढ़ता है न घटता है।*

टीका - आत्मलोक इष्ट होने पर भी, मोक्ष एक फल होने से, कर्म के बिना वह प्राप्त नहीं होता है। अन्यथा मुक्ति को आत्मा का स्वभाव कहोगे तो बन्ध-मोक्ष अवस्थाओं की विशेषता क्या रहेगी ऐसी शंका होने पर कहते हैं - **स च नित्यत्वान्नाविद्या निवृत्तिव्यतिरेकेणान्य-साधननिष्पाद्यस्तस्मात्प्रत्यागात्मब्रह्मविज्ञानपूर्वकः सर्वैषणासंन्यास एव कर्तव्य इति।** *वह मोक्ष नित्य होने से भी अविद्या निवृत्ति के बिना अन्य कोई साधनों से निष्पन्न नहीं होता, इसलिए अन्तरात्मा से अभिन्न ब्रह्म ज्ञान पूर्वक समस्त एषणाओं का संन्यास ही कर्तव्य है।* **टीका** - मोक्ष को कर्म का कार्य मानोगे तो उत्पाद्य आदि असंभव होने से (अर्थात् नित्यप्राप्त, निर्विकार, स्वतः शुद्ध आत्मस्वरूप मोक्ष का उत्पाद्य, आप्य, विकार्य, संस्कार्य होना असंभव होने से) सम्यक् ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति से फल की सिद्धि बन सकती है इसलिए मोक्ष कर्म का कार्य नहीं है। अर्थात् मोक्ष कर्म से उत्पन्न या कर्म का विकार आदि नहीं है। ब्रह्मज्ञान अनुभव में समाप्त हो इसलिए परोक्ष निश्चय पूर्वक संन्यास कर्तव्य है।

अर्थात् कर्मों का त्याग करना चाहिए। अनुभव रूप ब्रह्मज्ञान के प्राप्त होने पर संन्यास (विद्वत्संन्यास) स्वभाव से प्राप्त होता है यह समझना चाहिए। अर्थात् कर्म स्वतः छूट जाते हैं।

टीका– इस कारण भी ब्रह्म से अभिन्न आत्मनिश्चय और कर्मों का, समुच्चय, शास्त्र का अर्थ नहीं है, इस पर कहते हैं –
कर्मसहभावित्व– विरोधाच्च प्रत्यगात्मब्रह्मविज्ञानस्य। *प्रत्यगात्मब्रह्मज्ञान का कर्म के साथ होना संभव नहीं है क्यों कि उसका कर्म से विरोध है।*
नह्युपात्तकारक– फलभेदविज्ञानेन कर्मणा प्रत्यस्तमितसर्वभेददर्शनस्य प्रत्यगात्मब्रह्मविषयस्य सहभावित्वमुपपद्यते। *जिसमें कर्ता, कर्म आदि कारक और स्वर्गादि फलों के भेद का ज्ञान प्राप्त है, वैसे कर्मके साथ अर्थात् कारक-फल-भेद-ज्ञान वाले कर्मके साथ प्रत्यगात्मा से अभिन्न ब्रह्म को विषय करनेवाला ज्ञान का सह अस्तित्व युक्तियुक्त नहीं है।*

टीका– शंका– कर्म के समान ब्रह्मज्ञान वेद की विधि से अनुष्ठेय होने से, विधि भी विनियोज्य आदि (कर्ता आदि) भेद की अपेक्षा रखने से, ब्रह्मज्ञान होने पर प्रत्यस्तमितसर्वभेददर्शन कैसे कहते हो? ऐसी शंका पर कहते हैं – **वस्तुप्राधान्ये सत्यपुरुषतन्त्रत्वाद्ब्रह्मविज्ञानस्य।** *वस्तु प्राधान्य होने से ब्रह्मज्ञान पुरुषतन्त्र नहीं है। (कर्म पुरुष तन्त्र होता है करना नहीं करना इसमें संभव है। परंतु ज्ञान पुरुषतन्त्र नहीं है। वस्तु जैसा होता है ज्ञान उसीके अधीन होता है)* **टीका** – विधि से जन्य प्रयत्न से होनेवाला (यज्ञादि कर्म) विधि का विषय होता है। ज्ञान वैसा नहीं है। इसलिए ज्ञान में विधि नहीं है। अर्थात् ज्ञान विधि का विषय नहीं है।

जिस लिए परोक्ष या अपरोक्ष प्रत्यगात्मा के ब्रह्मत्व निश्चय का कर्मों के साथ समुच्चय प्रामाणिक नहीं है, इसलिए उपसंहार करते हैं –
तस्माद्दृष्टादृष्टेभ्यो बाह्यसाधनसाध्येभ्यो विरक्तस्य प्रत्यगात्मविषय ब्रह्मजि-ज्ञासेयं केनेषितमित्यादिश्रुत्या प्रदर्श्यते। *इसलिए बाह्य साधनों से साध्य, दृष्ट अदृष्ट फलों से विरक्त का अन्तरात्मा विषयक, यह ब्रह्म की जिज्ञासा, केनेषितं इत्यादि श्रुति द्वारा प्रदर्शित किया जाता है।*

टीका – प्रश्न प्रतिवचन द्वारा प्रतिपादन का तात्पर्य कहते हैं – **शिष्याचार्यप्रश्नप्रतिवचनरूपेण कथनं तु सूक्ष्मवस्तुविषयत्वात्सुखप्रतिपत्ति-कारणं भवति।** *यहाँ का विषय सूक्ष्म वस्तु ब्रह्म है, इससे शिष्य और आचार्य के बीच प्रश्न और प्रतिवचन के द्वारा कथन, सुगमता से ज्ञान उत्पत्ति का कारण होता है।* **केवलतर्कागम्यत्वं च दर्शितं भवति।** *इससे वह तत्त्व, केवल तर्क से अगम्य है यह दिखलाया गया है।* **'नैषा तर्केण मतिरापनेया' (कठ.२.६.४६) इति श्रुतेश्च। 'आचार्यवान्पुरुषाो वेद' 'आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापत्' (छा.४.६.३) इति।** *'केवल तर्क से यह आत्मविषयक बुद्धि प्राप्त नहीं होती अथवा केवल शुष्क तर्कों से इस बुद्धि का त्याग उचित नहीं है' इस प्रकार श्रुति वचन है। 'आचार्यवाला पुरुष उस ब्रह्म को जानता है।' अर्थात् जिसने गुरु मुख से उपनिषदों का श्रवण किया है उसे ही ज्ञान होता है। 'आचार्य से ही ज्ञात ब्रह्मविद्या श्रेष्ठ फल देती है।'* **'तद्विद्धि प्रणिपातेन' इत्यादि श्रुति-स्मृतिनियमाच्च।** *'प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा से सन्तुष्ट तत्त्वदर्शी ज्ञानी गुरु तुम्हें उपदेश करेंगे' इस प्रकार श्रुति और स्मृति के प्रतिपादित नियम से यह वात सिद्ध होती है।* **कश्चिद्गुरुं ब्रह्मनिष्ठं विधिवदुपेत्य प्रत्यगात्मविषयादन्यत्र शरणमपश्यन्नभयं नित्यं शिवमचलमिस्च्छन्पप्रच्छेति कल्प्यते। केनेषितमित्यादि।** *प्रत्यगात्मा को विषय करने वाला ज्ञान को छोड़ कर कोई अन्य शरण न देखता हुआ, अभय, नित्य, शिव, अचल की इच्छा करते हुए कोई मुमुक्षु विधि-पूर्वक किसी ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में जाकर पूछता है केनेषितं इत्यादि। इस प्रकार कल्पना की जाती है।*

ओम् केनेषितं पतति प्रेषितं मनः। केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः। केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनिक्ति।। १।।

ओम्। किससे प्रेरित होकर, किस प्रकार यह मन विषयों की ओर जाता है। किससे संयुक्त अर्थात् प्रेरित हुआ यह प्रथम अर्थात्

मुख्य प्राण जाता है अर्थात् अपने व्यापार में प्रवृत्त होता है। किससे प्रेरित होकर लोग इस वाणी को बोलते हैं। कौन से देव चक्षु और श्रोत्र को अपने कर्म में नियुक्त करता है।। १।।

केनेषितमिति। केन कत्रेषितमिष्टमभिप्रेतं सन्मनः पतति गच्छति स्वविषयं प्रतीति संबध्यते। *किस कर्ता की इच्छा से युक्त हुआ, या अभिलषित होता हुआ मन अपने विषयों के प्रति जाता है इस प्रकार संबन्ध है।*

टीका – **इष आभीक्ष्ण्ये, इष गतौ** पौनःपुन्यं अर्थात् बार-बार तथा गति अर्थ में इष धातू का प्रयोग संभव होने पर कैसे इच्छा अर्थ की ही व्याख्या है ऐसी शंका होने पर कहते हैं – **इषेराभीक्ष्ण्यार्थस्य गत्यर्थस्य चेहासंभवादिच्छार्थस्यैवैतद्रूपमिति गम्यते।** *इष धातु का (आभीक्ष्ण्य, गति और इच्छा अर्थों में से) आभीक्ष्ण्य और गति अर्थ का यहाँ संभव न होने से इच्छा अर्थवाले इष् धातु का यह अर्थ है यह जाना जाता है।* **टीका** – आभीक्ष्ण्य अर्थात् पौनःपुन्यं बार-बार उसके विषय होकर अथवा गति विषय होकर मन यहाँ अभिप्रेत (इष्ट) नहीं है, मन का विशेष प्रव-र्तक को जानने की इच्छा से यहां इष् धातु का अर्थ इच्छा अर्थवाला है। **इषितमितीट्प्रयोगस्तुच्छान्दसस्तस्यैव प्रपूर्वस्य नियोगार्थे प्रेषितमित्येतत्।** *इषितं में इट् का प्रयोग च्छान्दस है। प्र पूर्वक उसीका ही नियोग (प्रेरणा) अर्थ में प्रेषित है।* **टीका–** इट् के प्रयोग होने पर गुण होना चाहिए। तब एषितं होना चाहिए। गुण के अभाव होने से च्छान्दस कहा है। न कि यह धातु अनिट् है। अनुबन्ध (गुण) के विकल्प का विधान है। अन्वेषित तथा अन्विष्ट इस प्रकार वैकल्पिक प्रयोग देखा जाता है।

टीका– इषित और प्रेषित दोनों पदों के सार्थकता दिखाते हैं– **तत्र प्रेषि- तमित्येवोक्ते प्रेषयितृप्रेषणविशेषविषयाकाङ्क्षा स्यात्।** *प्रेषित मात्र कहने से प्रेषण कर्ता और प्रेषण विशेष विषय की आकांक्षा होगी।* **केन प्रेषयितृ- विशेषेण कीदृशं वा प्रेषणमिति।** *किस प्रेषक विशेष से और किस प्रकार का प्रेषण। इस प्रकार।* **इषितमिति तु विशेषणे सति तदुभयं**

निवर्तते। *प्रेषित का इषित विशेषण देने पर दोनों प्रकार की आकांक्षा निवृत्त हो जाती है।* **कस्येच्छामात्रेण प्रेषितमित्यर्थविशेषनिर्धारणाद्यद्येषोऽर्थो-ऽभिप्रेतः स्यात्केनेषिमित्येतावतैव सिद्धत्वात्प्रेषितमिति न वक्तव्यम्।** *शंका - किसकी इच्छा मात्र से प्रेषित इस प्रकार विशेष अर्थ के निर्धारण से, यदि यह अर्थ अभिप्रेत है तो केनेषितं इतने मात्र से यह अर्थ सिद्ध होता है तो प्रेषित नहीं कहना चाहिए था?*

टीका- इच्छामात्र से- प्रयत्न के बिना संनिधिमात्र से इस प्रकार व्याख्यात है। यह व्याख्यान शोभा नहीं देता। अपर्याय शब्दभेद का अर्थ-भेद व्यभिचार दोषवाला है। (टीपण्णी - अव्यभिचार यह पाठ सही है।) इस पर कहते हैं - **अपि च शब्दाधिक्यादर्थाधिक्यं युक्तमितीच्छया कर्मणा वाचा वा केन प्रेषितमित्यर्थविशेषोऽवगन्तुं युक्तः।** *शंका- और भी अधिक शब्द से अधिक अर्थ होना सही है। इस प्रकार इच्छा से, कर्म से या वाणी से, इनमें से किसके द्वारा प्रेषित यह विशेष अर्थ समझना ठीक है।*

टीका- आपके कहे गये विशेष अर्थ यहाँ घटता नहीं है। शरीरादि संघात का इच्छा आदि से प्रवर्तकत्व की सिद्धि होने से प्रश्न युक्तियुक्त नहीं है। इस पर कहते हैं - **न। प्रश्नसामर्थ्याद्।** *उत्तर*- प्रश्न के सामर्थ्य से आप का अर्थ सही नहीं है। **देहादिसंघातादनित्यात्कर्मका-र्याद्विरक्तोऽतोन्यत्कूटस्थं नित्यं वस्तु बुभूत्समानः पृच्छतीति सामर्थ्यादुप-पद्यते।** *कर्म के कार्य (फल) अनित्य देह आदि संघात से विरक्त मुमुक्षु इन देह आदि से भिन्न कूटस्थ, नित्य वस्तु की जानने की इच्छावाला पूछता है। इस प्रश्न के सामर्थ्य से (हमारे बताए गये अर्थ) उपयुक्त होता है।* **इतरथेच्छावाक्कर्मभिर्देहादिसंघातस्य प्रेरयितृत्वं प्रसिद्धमिति प्रश्नोऽनर्थक एव स्यात्।** *नहीं तो इच्छा, वाणी और कर्मों के द्वारा देह आदि संघात का प्रेरकत्व प्रसिद्ध है, इसलिए प्रश्न अनर्थक ही होगा।* (टिप्पणी- सिद्धान्त के अनुसार प्रेषित इत्यादि से दोनों पदों की सार्थकता कही गयी। फिर भी यह बुद्धि में नहीं बैठती है तो प्रकारान्तर से उसे कहते हैं) **एवमपि**

प्रेषितशब्दस्यार्थो न प्रदर्शित एव। *शंका- ऐसा मानने पर भी प्रेषित शब्द का अर्थ स्पष्ट नहीं हुआ।* **न। संशयवतोऽयं प्रश्न इति प्रेषितशब्दस्यार्थ-विशेष उपपद्यते।** *ऐसा कहना ठीक नहीं। किसी संशयवाले का यह प्रश्न है, इसीसे प्रेषित शब्द का विशेष अर्थ सिद्ध होता है।* **किं यथाप्रसिद्धमेव कार्यकरणसंघातस्य प्रेषयितृत्वं किं वा संघातव्यतिरिक्तस्य स्वतन्त्रस्येच्छा-मात्रेणैव मनआदिप्रेषयितृत्वमित्यस्यार्थस्य प्रदशनार्थं केनेषितं पतति प्रेषितं मन इति विशेषणद्वयमुपपद्यते।** *क्या जैसे प्रसिद्ध कार्यकरणों के संघात का प्रेषयितृत्व है अथवा संघात से अतिरिक्त किसी स्वतन्त्र (तत्त्व) की इच्छा मात्र से मन आदि का प्रेषयितृत्व है, इस अर्थ के प्रदर्शन के लिए 'केनेषितं पतति प्रेषितं मन' इस मंत्र में दोनों विशेषण युक्तिसंगत होते है।*

टीका- मन स्वतन्त्र होने से, अपने से अतिरिक्त प्रवर्तक की संभावना का अभाव होने से, प्रश्न घटता नहीं इस प्रकार आक्षेप करके उसका समाधान देते हैं- **ननु स्वतन्त्रं मनः स्वविषये स्वयं पततीति प्रसिद्धम्। तत्र कथं प्रश्न उपपद्यते इति।** *शंका- मन स्वतन्त्र है, अपने विषय में स्वयं जाता है यह प्रसिद्ध है। फिर उसके संबन्ध में यह प्रश्न कैसे संगत होगा ?* **उच्यते। यदि स्वतन्त्रं मनः प्रवृत्तिनिवृत्तिविषयं स्यात्तर्हि सर्वस्यानिष्टचिन्तनं न स्यादनर्थं च जानन्संकल्पयति।** *कहते हैं। यदि प्रवृत्ति और निवृत्ति विषय में मन स्वतन्त्र होता तो किसी को भी अनिष्ट चिन्तन नहीं होता। जानते हुए भी लोग अनिष्ट का चिन्तन करते हैं।* **अत्युग्रदुःखे च कार्ये वार्यमाणमपि प्रवर्तत एव मनस्तस्माद्युक्त एव केनेषि-तमित्यादि प्रश्नः।** *अत्यन्त दुःखदायी कार्य में वारण करने पर भी मन प्रवृत्त होता ही है, इसलिए केनेषितं इत्यादि प्रश्न युक्तियुक्त ही है।*
टीका- अति उग्र दुःख- अद्यतनीनदुःख अर्थात् सद्य दुःखप्रद द्यूत आदि कार्य। **केन प्राणो युक्तो नियुक्तः प्रेरितः सन्प्रैति गच्छति स्वव्यापारं प्रति।** *किससे नियुक्त अर्थात् प्रेरित होकर प्राण अपने व्यापार की ओर जाता है। अर्थात् अपना व्यापार करता है।* **प्रथम इति प्राणविषेषणं स्यात्तत्पूर्व-**

कत्वात्सर्वेन्द्रियवृत्तीनाम्। *प्रथम यह प्राण का विशेषण हो सकता है। क्योंकि समस्त इन्द्रियों की प्रवृत्ति प्राण पूर्वक होती है।* **केनेषितां वाच- मिमां शब्दलक्षणां वदन्ति लौकिकाः।** *किससे प्रेरित होकर साधारण लोग शब्द लक्षण वाली यह वाणी बोलते हैं।* **तथा चक्षुः श्रोत्रं च स्वे स्वे विषये क उ देवो द्योतनवान्युनक्ति नियुङ्क्ते प्रेरयति।। १।।** *और कौन प्रकाशमान देव चक्षु और श्रोत्र इन्द्रियों को अपने अपने विषयों में नियुक्त करता है अर्थात् प्रेरित करता है।। १।।*

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मन यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणश्चक्षुषश्चक्षुः। अतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति।। २।।

वह देव श्रोत्र का श्रोत्र है और मनका भी मन है। वह वाणी की वाणी और प्राण का भी प्राण है। वह चक्षु का चक्षु है। बुद्धिमान् पुरुष अतिमुच्य अर्थात् श्रोत्र आदि में आत्मभाव को त्याग कर इस लोक से जाकर अर्थात् शरीर, पुत्र आदि में अहंभाव और मम भाव को त्याग कर अमर हो जाते हैं। अथवा अतिमुच्य अर्थात् श्रोत्रादि में आत्मभाव त्यागकर तथा एषणाओं को त्याग कर, इस शरीर से छूट कर अर्थात् मरने के बाद अमर हो जाता है। विदेहमुक्ति प्राप्त करते हैं।

एवं पृष्टवते योग्यायाऽऽह गुरुः शृणु त्वं यत्पृच्छसि। *ऐसे पूछनेवाले योग्य शिष्य को गुरु ने कहा कि सुनो तुम जो पूछ रहे हो।* **मन आदि करणजातस्य को देवः स्वविषयं प्रति प्रेरयिता कथं वा प्रेरयति।** *कौन देव, मन आदि करण समुदायों का अपने विषयों के प्रति प्रेरयिता है और वह कैसे प्रेरित करता है।* **श्रोत्रस्य श्रोत्रं, शृणोत्यनेनेति श्रोत्रं शब्दस्य श्रवणं प्रति करणं शब्दाभिव्यंजकं श्रोत्रमिन्द्रियं तस्य श्रोत्रं स यस्त्वया पृष्टश्चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्तीति।** *जो तुमने इस प्रकार पूछा था कि चक्षु और श्रोत्र को कौन देव प्रेरित करता है। वह श्रोत का श्रोत्र है - जिससे सुनता है वह श्रोत्र है, अर्थात् शब्द का अभिव्यंजक*

श्रवण के प्रति जो करण है वह श्रोत्र-इन्द्रिय है। उस श्रोत इन्द्रिय का वह श्रोत है, (अर्थात् श्रोत्र इन्द्रिय का वह साक्षी है)

टीका – उत्तर, प्रश्न के अनुरूप होना चाहिए, इस प्रकार आशंका करके उसका समाधान देते हैं – **असावेवंविशिष्टः श्रोत्रादीनि नियुङ्क्त इति वक्तव्ये नन्वेतदननुरूपं प्रतिवचनं श्रोतस्य श्रोतमिति।** *ऐसे विशेषणों से युक्त यह श्रोत्र आदि को नियुक्त करता है इस प्रकार कहना चाहिए था, परंतु यह श्रोत्र का श्रोत्र, प्रश्न के अनुरूप उत्तर नहीं है।* **नैष दोषः।** *यह कोई दोष नहीं है।* **टीका** – श्रोत्र आदि, अपने से विलक्षण के शेष हैं। गृह आदि के समान संहत (इकट्ठे) श्रोत आदि (अपने से विलक्षण किसी के लिए) होते हैं। (संहतानां पारर्थ्यत्वात्) । इस अनुमान से श्रोत्र आदि का कोई शेषी जाना जाता है। यदि वह शेषी भी संहत होगा तब गृह आदि के समान अचेतन होगा। तब उसके भी कोई शेषी की कल्पना करनी पड़ेगी। उसका भी अन्य। इस प्रकार अनवस्था प्रसंग परिहार के लिए असंहत चेतन जाना जाता है। इसलिए सबके साक्षी को लक्षित करने के लिए प्रतिवचन युक्त ही है। **तस्यान्यथाविशेषा-नवगमात्।** *किसी अन्य विशेष रूप से उस प्रेरक को जाना नहीं जाता है।* **यदि हि श्रोत्रादिव्यापारव्यतिरिक्तेन स्वव्यापारेण विशिष्टः श्रोत्रादिनि-योक्ताऽवगम्येत दात्रादिप्रयोक्तृवत्तदेदमननुरूपं प्रतिवचनं स्यात्।** *दराती आदि औजारों का प्रयोग कर्ता (जैसे दराती क्रिया से भिन्न (देखना,खाना आदि) क्रिया से विशिष्ट जाना जाता है) उसके समान यदि श्रोत्र आदि व्यापार से भिन्न अपने व्यापार से विशिष्ट श्रोत्र आदि का नियोग कर्ता जाना जाता तब यह अननुरूप प्रतिवचन होता।* **न त्विह श्रोत्रादीनां प्रयोक्ता स्वव्यापारविशिष्टो लवित्रादिवदधिगम्यते।** *यहाँ लवित्र अर्थात् हँसिया के व्यापार से भिन्न अपने व्यापार से विशिष्ट कोई श्रोत्र आदि का प्रयोग कर्ता जाना नहीं जाता।* **श्रोत्रादीनामेव संहतानां व्यापारेणाऽऽलोचन-संकल्पाध्यवसायलक्षणेन फलावसानलिङ्गेनावगम्यते।** *श्रोतादि संघात का आलोचन (गुण दोष की परख), संकल्प, अध्यवसाय (निश्चय) रूप*

व्यापार का फल में अवसान रूप लिंग (हेतु) से उनके प्रेरक जाना जाता है। **टीका** – फल अवसान अर्थात् फल की निष्पत्ति (प्रमा की उत्पत्ति)। जिस अवगति में फल की निष्पत्ति लिंग अर्थात् हेतु है। क्योंकि अवगति से करण का व्यापार लिंगित होता है। अथवा नित्य अवगति के व्यंजक होने से। क्योंकि फल अवसान लिंग व्यापार है। उससे उसके शेषी लक्षित होता है। **अस्ति हि श्रोत्रादिभिरसंहतो यत्प्रयोजनप्रयुक्तः श्रोत्रादिकलापो गृहादिवदिति संहतानां परार्थत्वादवगम्यते श्रोत्रादीनां प्रयोक्ता।** *गृह आदि के समान श्रोत्र आदि समूह जिसके प्रयोजन के लिए प्रयुक्त होते हैं, वह उनसे असंहत (पृथक) और श्रोत्र आदि का प्रेरक है, यह जाना जाता है। क्योंकि नियम है कि संहत वस्तु दूसरे के लिये होते हैं।* **तस्मादनुरूपमेवेदं प्रतिवचनं श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यादि।** *इसलिय प्रश्न के अनुरूप ही यह उत्तर है कि श्रोत्रका वह श्रोत्र इत्यादि।* **कः पुनरत्र पदार्थः श्रोत्रस्य श्रोतमित्यादेः। न ह्यत्र श्रोत्रस्य श्रोत्रान्तरेणार्थः, यथा प्रकाशस्य प्रकाशन्तरेण।** *तब श्रोत्र का श्रोत्र इत्यादि पदों का अर्थ क्या है ? जैसे प्रकाश का कोई दुसरा प्रकाश वैसे श्रोत्र का कोई दूसरा श्रोत्र यह अर्थ नहीं हो सकता।* **नैष दोषोऽयमत्र पदार्थः – श्रोत्रं तावत्स्व–विषयव्यंजनसमर्थं दृष्टम्। तच्च स्वविषयव्यंजनसामर्थ्यं श्रोत्रस्य चैतन्ये ह्यात्मज्योतिषि नित्येऽसंहते सर्वान्तरे सति भवति नासतीत्यतः श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्याद्युपपद्यते।** *यह कोई दोष नहीं है। इसका यह अर्थ है – श्रोत्र तो अपने विषय को प्रकाशित करता है, यह देखा गया है। अपने विषय को प्रकाशित करने में उसमें जो सामर्थ्य (शक्ति) है, वह नित्य, असंहत, सर्वान्तर, चैतन्य आत्मज्योति के रहते हुए होता है। उस आत्मज्योति के अभाव में उसमें सामर्थ्य नहीं हो सकता। इसलिए श्रोत्र का श्रोत्र इत्यादि कथन उचित है।* **तथा च श्रुत्यन्तराणि – 'आत्मनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते' (बृ.४.३.६)** *वैसे दूसरी श्रुतियाँ इसी बात को कहती है 'इस आत्मज्योति के द्वारा वह बैठता है' (अर्थात् जब आदित्य, चंद्रमा, अग्नि, वाणी आदि ज्योति शान्त हो जाती है तो किस ज्योति से वह व्यवहार करता है तब कहते हैं कि वह*

आत्मज्योति से समस्त व्यवहार करता है।) **'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (कठ.२.२.१५)** *(वहाँ सूर्य, चन्द्र, तारा, विद्युत् आदि प्रकाशित नहीं होते हैं तो अग्नि कहाँ प्रकाशित होगी।) किन्तु उसके प्रकाश से सभी प्रकाशित होते हैं।* **'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' (तै.ब्रा.३.१२.९७) इत्यादीनि।** *जिस तेजसे प्रकाशित होकर सूर्य तपता है। इत्यादि।* **'यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलं' (गी.१५.१२)** *'जो आदित्य में स्थित तेज, सारा संसार को प्रकाशित करता है और जो चन्द्रमा और अग्नि में तेज है वह मेरा ही तेज है'* **'क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत' (गी.१३.३३) इत्यादि गीतासु।** *'जैसे एक ही सूर्य समस्त लोक को प्रकाशित करता है, वैसे समस्त क्षेत्र और क्षेत्री को वह आत्मज्योति प्रकाशित करता है' इत्यादि गीतामें भी यह बात बताई गई है।* **काठके च 'नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानाम्।' इति।** *कठ उपनिषद में भी कहा है कि 'वह अनित्यों में नित्य और चेतनों में चेतन है।' इस प्रकार।*

टीका – प्रतिवचन का संक्षेपसे तात्पर्य कहते हैं – **श्रोत्राद्येव सर्वस्याऽऽत्मभूतं चेतनमिति प्रसिद्धं तदिह निवर्त्यते।** *संसार में प्रसिद्ध है कि सबके आत्मभूत (आत्मा बने) श्रोत्र आदि चेतन हैं, यह धारणा यहाँ निवृत्त किया जाता है।* **अस्ति किमपि विद्वद्बुद्धिगम्यं सर्वान्तरतमं कूटस्थमजरममृतमभयमजं श्रोत्रादेरपि श्रोत्रादि तत्सामर्थ्यनि- मित्तमिति प्रतिवचनं शब्दार्थश्चोपपद्यत एव।** *विद्वान की बुद्धि से गम्य अर्थात् समझ आने वाला कोई वस्तु है, जो सबके अन्तरतम, कूटस्थ, अजर, अमृत, अभय, अज, श्रोत्रादियों के भी श्रोत्र, उनके सामर्थ्य का निमित्त, इस प्रकार प्रतिवचन और शब्दों का अर्थ समुचित है।* **तथा मनसोऽन्तःकर- णस्य मनः। न ह्यन्तःकरणमन्तरेण चैतन्यज्योतिषा दीपितं स्वविषयसंक- ल्पाध्यवसायादिसमर्थं स्यात्। तस्मान्मनसाोऽपि मन इति। इह बुद्धिमनसी एकीकृत्य निर्देशो मनस इति।** *और वह मन अर्थात् अन्तःकरण का मन है। चैतन्य ज्योति से दीप्त हुए बिना अन्तःकरण अपने विषय संकल्प, अध्यवसाय (निश्चय) आदि में समर्थ नहीं हो सकता है। इसलिए वह*

मन का भी मन है। यहाँ बुद्धि और मन को एक करके 'मन' का निर्देश है। **यद्वाचो ह वाचं यच्छब्दो यस्मादर्थे श्रोत्रादिभिः सर्वैः संबध्यते। यस्माच्छ्रोत्रस्य श्रोत्रम्। यस्मान्मनसो मन इत्येवम्। वाचो ह वाचमिति द्वितीया प्रथमात्वेन विपरिणम्यते। प्राणस्य प्राण इति दर्शनात्।** *यद्वाचो ह वाचम्। यहाँ यत् शब्द यस्मात् अर्थ में श्रोत्र आदि सबके साथ संबन्धित है। वह इस प्रकार है- जिससे वह श्रोत्रका श्रोत्र है। जिससे वह मनका मन है इस प्रकार आगे भी समझना चाहिए। वाचो ह वाचं में, 'वाचम्' इस द्वितीयान्त पद को 'वाक्' प्रथमान्त में बदल कर अर्थ करना चाहिए। क्योंकि आगे प्राणस्य प्राणः इस प्रकार देखा गया है।* **टीका** - जिसलिए वह श्रोत्र का श्रोत्र है इसलिए श्रोत्र आदि में आत्मबुद्धि त्याग करनी चाहिए इतना जोड़ देना चाहिए। **वाचो ह वाचमित्यैतदनुरोधेन प्राणस्य प्राणमिति कस्माद्द्वितीयैव न क्रियते।** *शंका - वाचो ह वाचम् इसके अनुरोध से प्राणस्य प्राणम् ऐसा क्यों नहीं कर सकते ?* **न। बहूनामनुरोधस्य युक्तत्वाद्वाचमित्यस्य वागित्येतावद्वक्तव्यं स उ प्राणस्य प्राण इति शब्दद्वयानुरोधेन।** *नहीं। स उ प्राणस्य प्राण यहाँ 'स' और 'प्राण' दोनों शब्दों के अनुरोध से, अनेक के अनुरोध युक्तियुक्त होने से, वाचम् के स्थान पर वाक् ऐसा कहना चाहिए।* **एवं हि बहूनामनुरोधो युक्तः कृतः स्यात्।** *इस प्रकार बहुतों का अनुरोध युक्त होने से कर्तव्य है।* **पृष्टं च वस्तु प्रथमयैव निर्देष्टुं युक्तम्।** *और भी पूछी गयी वस्तु का प्रथमा विभक्ति द्वारा निर्देश करना युक्ति संगत है।* **स यस्तवया पृष्टः प्राणस्य प्राणाख्यवृत्तिविशेषस्य प्राणस्तत्कृतं हि प्राणस्य प्राणनसामर्थ्यम्।** *जो तुमने पूछा था, वह प्राण का अर्थात् प्राण नाम वाले विशेष वृत्ति का प्राण है। क्योंकि प्राण का जो प्राणन सामर्थ्य है वह उस चैतन्य द्वारा संपादित है अर्थात् उस चैतन्य के कारण है।*

टीका - प्राण की चेष्टा, चेतन-अधिष्ठान पूर्वक है, अचेतन की प्रवृत्ति होने से, रथ आदि की प्रवृत्ति के समान इस अभिप्राय से कहते हैं - **न ह्यात्मनाऽनधिष्ठतस्य प्राणनमुपपद्यते।** *आत्मा से अनधिष्ठत की*

प्राणन क्रिया संभव नहीं है। **'को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' (तैतिरिय)** *'यदि यह आकाश आनन्द न होता कौन प्राण धारण करता और कौन चेष्टा करता'* **'ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति' इत्यादि श्रुतिभ्यः।** *'यह आत्मा प्राण को ऊपर ले जाता है और अपान को नीचे की ओर ढकेलता है। इन श्रुतियों से यह बात सिद्ध होती है।* **इहापि वक्ष्यते– 'येन प्राणः प्रणीयते तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि' इति।** *यहाँ पर भी कहेंगे 'जिससे प्राण प्राणन क्रिया करता है, उसे तुम ब्रह्म जानो'। इस प्रकार।* **श्रोत्रादीन्द्रियप्रस्तावे घ्राणप्राणस्य ननु युक्तं ग्रहणम्।** *शंका – श्रोत्र आदि इन्द्रियों के प्रसंग में प्राण शब्द से घ्राण (इन्द्रिय) का ग्रहण होना चाहिये ?* **सत्यमेवं प्राणग्रहणेनैव तु घ्राणप्राणस्य ग्रहणं कृतम्। एवं मन्यते श्रुतिः।** *आपकी शंका जायज है। किन्तु इस प्रकार प्राण के ग्रहण से घ्राणेन्द्रिय का भी ग्रहण हो गया। श्रुति इस प्रकार मानती है।* **सर्वस्यैव करणकलापस्य यदर्थ प्रयुक्ता प्रवृत्तिस्तद्ब्रह्मेति प्रकरणार्थो विवक्षितः।** *जिसके लिए और जिसके द्वारा समस्त करण समूह की प्रवृत्ति है वह ब्रह्म है, यह प्रकरण का अर्थ विवक्षित है।* **तथा चक्षुषश्चक्षुः रूपप्रकाशकस्य चक्षुषो यद्रूपग्रहणसामर्थ्यं तदात्मचैतन्याधिष्ठित–स्यैवातश्चक्षुषश्चक्षुः।** *उसी प्रकार चक्षुषश्चक्षुः– रूप के प्रकाशक चक्षु का जो रूप ग्रहण में सामर्थ्य है वह आत्मचैतन्य से अधिष्ठित होते हुए संभव है इसलिए वह चक्षु का चक्षु है।*

टीका – ज्ञात्वा इस पद के अध्याहार में कारण दिखाते है – **प्रष्टुः पृष्टस्यार्थस्य ज्ञातुमिष्टतवाच्छ्रोत्रादेः श्रोत्रादिलक्षणं यथोक्तं ब्रह्म ज्ञात्वेत्यध्याह्रियते। अमृता भवन्ति इति फलश्रुतेः।** *पूछने वाले के पूछे गये अर्थ को जानना इष्ट होने से तथा अमर हो जाते है इस प्रकार फल के श्रवण से, श्रोत्र आदि का श्रोत्र लक्षण वाला, कहे गये ब्रह्म को 'जान कर' इतना अध्याहार किया जाता है। अर्थात् इतना जोड़ कर अर्थ समझना चाहिए। अमृता भवन्ति इस प्रकार के फल के श्रवण के कारण।* **ज्ञानाद्ध्यमृतत्त्वं प्राप्यते।** ज्ञान से ही अमृतत्त्व की प्राप्ति होती

है। **'ज्ञात्वाऽतिमुच्य' इति सामर्थ्याच्छ्रोत्रादिकरणकलापमुज्झित्वा।** *'ज्ञात्वा अतिमुच्य' इस सामर्थ्य से अतिमुच्य का अर्थ है कि श्रोत्र आदि करण समुदाय में आत्मबुद्धि त्याग कर।'* **टीका** – श्रोत्र आदि में आत्मभाव के त्याग के बिना अमृतत्त्व असंभव होने से ज्ञान के बल से श्रोत्र आदि में आत्मभाव को त्यागकर अमृत हो जाते हैं इस प्रकार संबन्ध है।

टीका– इस बात को स्पष्ट करते हैं – **श्रोत्रादौ ह्यात्मभावं कृत्वा तदुपाधिः संस्तदात्मना जायते म्रियते संसरति च। अतः श्रोत्रादेः श्रोत्रादिलक्षणं ब्रह्माऽऽत्मेति विदित्वाऽतिमुच्य श्रोत्राद्यात्मभावं परित्यज्य ये श्रोत्राद्यात्मभावं परित्यजन्ति ते धीराः धीमन्तः।** *श्रोत्र आदि में आत्मभाव करके उस उपाधि वाला होकर, अर्थात् उस से अभिन्न होकर, जन्मता, मरता और संसार को प्राप्त होता है। इसलिए श्रोत्र आदि के श्रोत्र रूप ब्रह्म से अभिन्न आत्मा को जानकर, अतिमुच्य अर्थात् श्रोत्र आदि में आत्मभाव को त्याग कर। जो श्रोत्र आदि में आत्मभाव को त्याग देते हैं वे धीर अर्थात् ज्ञानी जन होते हैं।* **न हि विशिष्टधीमत्त्वमन्तरेण श्रोत्राद्यात्मभावः शक्यः परित्यक्तुम्।** *विशेष बुद्धि (अद्वैतबुद्धि) के बिना श्रोत्र आदि में आत्मभाव त्याग करना असंभव है।* **प्रेत्य व्यावृत्यास्माल्लो–कात्पुत्रमित्रकलत्रबन्धुषु ममाहंभावसंव्यवहारलक्षणात्त्यक्तसर्वैषणा भूत्वेत्यर्थः। अमृता अमरणधर्माणो भवन्ति।** *इस लोक से जाकर अर्थात् पुत्र, मित्र, स्त्री, बन्धु आदि में मेरापना और अहंभाव रूप व्यवहार लक्षण वाला समस्त एषणाओं से मुक्त होकर अमृत अर्थात् अमरण धर्म वाले होते हैं।* **'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः' 'परांचि खानि व्यतृणत्' 'आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्' 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते' 'अत्र ब्रह्म समश्नुते' इत्यादि श्रुतिभ्यः।** *'न कर्म से, न प्रजा से, न धनसे किन्तु कुछ विरले पुरुष त्याग से अमरत्व को प्राप्त किये हैं।' 'ब्रह्मा जी ने इन्द्रियों को बाहर की ओर बनाया' इसलिए सभी बाहर ही देखते हैं। 'कोई विरला इन्द्रियों को समेट कर अमरत्व की इच्छा से अन्दर झाँकता है' 'जब हृदय में स्थित सभी कामनाएँ निकल जाती है', तब मरणशील पुरुष*

अमर हो जाता है, 'इस अवस्था में ब्रह्म को प्राप्त होता है।' इत्यादि श्रुतियों से यह सिद्ध होता है कि एषणाओं के त्याग से अमरत्व की प्राप्ति होती है। **अथवाऽतिमुच्येत्यनेनैवैषणात्यागस्य सिद्धत्वादस्माल्लोका-त्प्रेत्यास्माच्छरीरात्प्रेत्य मृत्वेत्यर्थः।। २।।** *अथवा अतिमुच्य इस शब्द से एषणाओं के त्याग की सिद्धि हो जाने से अस्मात् लोकात् प्रेत्य इसका अर्थ है इस शरीसे छूट कर अर्थात् मरने के बाद।* **टीका**– मर कर, यहाँ विदेहमुक्ति विवक्षित है। प्रारब्ध के भोग के क्षय होने पर अन्य शरीर की उत्पत्ति में कोई अन्य कारण न होने से विद्वान को अवश्यंभावी मुक्ति प्राप्त होती है।। २।।

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि। इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे।। ३।।

उस ब्रह्म में न चक्षु जाती है न वाणी जाती है और न मन। अर्थात् वह चक्षु आदि इन्द्रियों का विषय नहीं है। इसे शिष्यों को जिस प्रकार सामान्य और विशेष रूप से उपदेश किया जाना चाहिए यह हम नहीं जानते हैं।(अर्थात् उपदेश में और समझने में अधिक यत्न की आवश्यकता है।) क्योंकि वह ज्ञात और अज्ञात से भिन्न है। इस प्रकार हम पूर्व आचार्यों से सुना है जिन्होंने हमें इसका उपदेश किया।। ३।।

टीका– सर्प आदि अध्यास के अधिष्ठान रस्सी के समान श्रोत्र आदि अध्यास के अधिष्ठान चैतन्य श्रोत्रस्य श्रोत्रं इत्यादि से लक्षित हुआ है। तब रस्सी के समान अधिष्ठान होने से इन्द्रियों का विषय होना चाहिए इस शंका का निवारण करते हैं कि अधिष्ठान अध्यस्त का स्वरूप होता है। क्योंकि आदि, अन्त और मध्य में उसका व्यभिचार नहीं होता है। पदार्थ का धर्म है कि वह स्वरूप को विषय नहीं कर सकता है। इसलिए आप का हेतु अप्रयोजक है। – **यस्माच्छ्रोत्रादेरपि श्रोत्राद्यात्मभूतं ब्रह्मातो न तत्र तस्मिन्ब्रह्मणि चक्षुर्गच्छति। स्वात्मनि गमनासंभवात्।** *जिसलिए श्रोत्र आदि का भी श्रोत्र आदि होने से ब्रह्म आत्मा से अभिन्न है, इसलिए*

वहाँ अर्थात् उस ब्रह्म में चक्षु इन्द्रिय नहीं जाती है। क्योंकि आत्मा (अपने आप) में गमन असंभव है। **वाचा हि शब्द उच्चार्यमाणोऽभिधेयं प्रकाशयति यदा तदाऽभिधेयं प्रति वाग्गच्छतीत्युच्यते।** *वाणी द्वारा उच्चारण किया गया शब्द जब अभिधेय (वस्तु) को प्रकाशित करता है तब अभि-धेय के प्रति वाणी जाती है, इस प्रकार कहा जाता है।* **तस्य च शब्दस्य तन्निवर्तकस्य च करणस्याऽऽत्मा ब्रह्मातो न वाग्गच्छति।** *उस शब्द की और उसके करण वाणी की आत्मा (स्वरूप) ब्रह्म है। इसलिए वहाँ वाणी नहीं पहूँच सकती।* **यथाऽग्निर्दाहकः प्रकाशकश्चापि सन्न ह्यात्मानं प्रकाश-यति दहति च तद्वत्।** *जैसे दाहक और प्रकाशक अग्नि स्वयं को प्रकाशित और दहन नहीं कर सकती, ठीक वैसे।* **नो मनो मनश्चान्यस्य संकल्पयित्रध्यवसायितृ च सदात्मानं न संकल्पयत्यध्यवस्यति च तस्यापि ब्रह्म आत्मा।** *नो मन- मन भी नहीं। मन किसी वस्तु का संकल्प या निश्चय करता हुआ आत्मा का संकल्प या निश्चय नहीं कर सकता है, क्योंकि उसकी आत्मा (स्वरूप) ब्रह्म ही है।*

टीका- अविषय होने से शास्त्र का आचार्य के द्वारा उपदेश भी नहीं हो सकता है, ऐसी आशंका होने पर कहते हैं कि वास्तविकता ऐसी नहीं है- **इतीन्द्रियमनोभ्यां हि वस्तुनो विज्ञानं, तदगोचरत्वान्न विद्मस्तद्-ब्रह्मेदृशमित्यतो न विजानीमो यथा येन प्रकारेणैतद्ब्रह्मानुशिष्यादुपदिशेच्छि-ष्यायेत्यभिप्रायः।** *इन्द्रिय और मन से पदार्थों का ज्ञान होता है, उन से अगोचर होने से अर्थात् उनका विषय न होने से 'वह ब्रह्म इस प्रकार का है' ऐसे नहीं जानते हैं। अर्थात् विषय रूप से नहीं जानते है। इसलिए उस ब्रह्म को शिष्य के लिए जिस प्रकार से उपदेश करें वह भी नहीं जानते हैं। यह अभिप्राय है।* **यद्धि करणगोचरं तदन्यस्मा उपदेष्टुं शक्यं जातिगुणक्रियाविशेषणैः। न तज्जात्यादिविशेषणवद्ब्रह्म।** *जो वस्तु करण के विषय होगा उसे जाति, गुण, क्रिया के विशेषणों से अन्य के लिए उपदेश किया जा सकता है। ब्रह्म उन जाति आदि विशेषण वाला नहीं है।* **टीका** - 'यह ब्राह्मण है' यहाँ जाति रूप विशेषण है। 'यह

काला है' यहाँ गुण से विशेषण है। 'यह रसोईया है' यहाँ क्रिया से विशेषण है। 'यह राजपुरुष है' यहाँ संबन्ध को लेकर विशेषण है। ब्रह्म जाति आदि वाला नहीं है। 'केवलो निर्गुणश्च' यह श्रुति है। **तस्माद्विषमं शिष्यानुपदेशेन प्रत्याययितुं शक्यः।** *इसलिए शिष्यों को उपदेश द्वारा समझाना बड़ा कठिन काम है।* **उपदेशे तदर्थग्रहणे च यत्नातिशयकर्तव्यतां दर्शयति- न विद्म इत्यादि।** *उपदेश और उसके अर्थ ग्रहण में अत्यधिक प्रयन्त की आवश्यकता को 'न विद्म' इत्यादि वाक्यों से श्रुति दिखाती है।*

टीका- अज्ञानी द्वारा आगम को भेद दृष्टि से जानने से उसके अनुसार आचार्य भी अविद्यालेश दृष्टि से आगम द्वारा व्यावहारिक उपदेश संभव है। आत्मा को ब्रह्म रूप से लक्षित करने में आगम की अतिशय योग्यता है (प्राण आदि की चेष्टा, चेतन अधिष्ठान पूर्वक है, यह अनुमान यद्यपि आत्मा का लक्षित करता है, फिर भी आत्मा को ब्रह्म रूप से लक्षित नहीं कर सकती। वह तो केवल आगम से संभव है। इसलिए आगम में योग्यता की अतिशयता है) इस पर कहते हैं - **अत्यन्तमेवोपदेशप्रकारप्रत्याख्याने प्राप्ते तदपवादोऽयमुच्यते। सत्यमेवं प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैर्न परः प्रत्याययितुं शक्यः। आगमेन तु शक्यत एवं प्रत्याययितुम्।** *शिष्यों को किस प्रकार उपदेश करेंगे यह हम नहीं जानते हैं इस वाक्य से उपदेश के प्रकार का अत्यन्त प्रत्याख्यान होने से उसका अपवाद यह कहा जाता है। सत्य है कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से दूसरे को नहीं समझा जा सकता है। किन्तु आगम प्रमाण से समझाया जा सकता है।* **तदुपदेशार्थमागममाह- अन्यदेव तद्विदितादथो अविदिता-दधीति।** *उस ब्रह्म के उपदेश के लिए आगम का कथन करते हैं - वह विदित और अविदित से अन्य है।* **अन्यदेव पृथगेव तद्यत्प्रकृतं श्रोत्रादीनां श्रोत्रादीत्युक्तमविषयं च तेषाम्, तद्वितितादन्यदेव हि, विदितं नाम यद्विदि-क्रिययाऽतिशयेनाऽऽप्तं सद्विदिक्रियाकर्मभूतं क्वचित्किंचित्कस्यचिद्विदितं स्यादिति सर्वमेव व्याकृतं तद्विदितमेव तत्तस्यादन्यदित्यर्थः।** *श्रोत्र आदि का श्रोत्र इत्यादि से कहा गया उनके अविषय जो प्रकरण से प्राप्त ब्रह्म वह*

अन्य अर्थात् पृथक् है। वह विदित से पृथक् है। विदित उसे कहते हैं जो विदि क्रिया के द्वारा पूर्णरूप से व्याप्त होता हुआ विदि क्रिया का कर्म है, तथा कभी, कुछ, किसीसे जाना जाता है। इस प्रकार समस्त व्याकृत संसार विदित है, उससे भिन्न अविदित है। **अविदितमज्ञातं तर्हीति प्राप्त आह– अथो अविदिताद्विदितविपरीतादव्याकृतादविद्यालक्ष–णाद्व्याकृतबीजात्।** *तब तो वह अविदित अर्थात् अज्ञात है। इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं – नहीं। वह अविदित से अर्थात् विदित से विपरीत अविद्या लक्षण वाला व्याकृत के कारण अव्याकृत से भी पृथक् है।* **अधीत्युपर्यर्थे लक्षणयाऽन्यदित्यर्थः। यद्धि यस्मादध्युपरि भवति तत्तस्मादन्यदिति प्रसिद्धम्।** *अविदितात् अधि, यहाँ अधि का अर्थ ऊपर होता है। यहाँ लक्षणा से अन्य समझना चाहिए। जो जिसके ऊपर होता है वह उससे भिन्न होता है, यह प्रसिद्ध है।*

टीका– वाक्य के पदार्थों की व्याख्या करके तात्पर्य दिखाने के लिए उपक्रम करते हैं– **यद्विदितं तदल्पं मर्त्यं दुःखात्मकं हेयम्। तस्माद्वि–दितादन्यद् ब्रह्मेत्युक्ते त्वहेयत्वमुक्तं स्यात्।** *जो विदित होता है वह मरणशील अर्थात् नाशवान् और दुःखरूप होता है, इसलिए त्याग के योग्य है। उस विदित से अन्य ब्रह्म है, ऐसे कहने से, वह हेय नहीं है, यह कहा गया।* **कार्यार्थं हि कारणमन्यदन्येनोपादीयतेऽतश्च न वेदितु–रन्यस्मै प्रयोजनायान्यदुपादेयं भवतीत्येवं विदिताविदिताभ्यामन्यदिति हेयोपा–देयप्रतिषेधेन स्वात्मनोऽन्यब्रह्मविषया जिज्ञासा शिष्यस्य निवर्तिता स्यात्।** *कार्य के लिए किसी अन्य के द्वारा किसी अन्य कारण का ग्रहण होता है। (घट कार्य के लिए कुलाल के द्वारा अन्य कारण मिट्टी का ग्रहण किया जाता है)। इसलिए ज्ञाता (सबके प्रकाशक आत्मा) को किसी अन्य प्रयोजन के लिए किसी अन्य उपादेय की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार विदित और अविदित से पृथक् कह कर, हेय और उपादेय के प्रतिषेध के द्वारा आत्मा से अन्य ब्रह्म विषयक शिष्य की जिज्ञासा खत्म हो जाती है।*

टीका- जो वेदिता-ज्ञाता से अन्य है वह या तो विदित-ज्ञात होगा या तो अविदित-अज्ञात होगा। विदितत्व और अविदितत्व के निषेध से ब्रह्म वेदिता का स्वरूप है, यह आगम का तात्पर्य है इसे कहते हैं- **न ह्यन्यस्य स्वात्मनो विदिताविदिताभ्यामन्यत्वं वस्तुनः संभवतीत्यात्मा ब्रह्मेत्येष वाक्यार्थः।** *विदित अविदित से भिन्न आत्मा के अतिरिक्त और कोई वस्तु है ही नहीं, इसलिए आत्मा ही ब्रह्म है यह वाक्य का अर्थ है।* **'अयमात्मा ब्रह्म' 'य आत्माऽपहतपाप्मा' 'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म' 'य आत्मा सर्वान्तरः' इत्यादि श्रुत्यन्तरेभ्यश्चेत्येवं सर्वात्मनः सर्वविशेषरहितस्य चिन्मात्रज्योतिषो ब्रह्मत्वप्रतिपादकस्य वाक्यस्याऽऽचार्योपदेशपरम्परया प्राप्तत्वमाह- इति शुश्रुमेत्यादि।** *'यह आत्मा ब्रह्म है' 'जो आत्मा पाप रहित है' 'जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है' 'जो आत्मा सबके अन्दर है' इत्यादि अन्य श्रुतियों से भी इस प्रकार सर्वान्तर, समस्त विशेष रहित, केवल ज्योति स्वरूप, ब्रह्म का स्वरूप प्रतिपादक वाक्य का गुरु परंपरा से प्राप्त उपदेश से ही प्राप्त होता है इस बात को कहते हैं- इति श्रुश्रुम इत्यादि से।* **ब्रह्म चैवमाचार्योपदेशपरम्पर्ययैवाधिगन्तव्यं न तर्कतः प्रवचनमेधाबहुश्रुततपोयज्ञादिभ्यश्चेत्येवं शुश्रुम श्रुतवन्तो वयं पूर्वेषामाचार्याणां वचनम्।** *इस प्रकार आचार्य उपदेश परंपरा से प्राप्त करना चाहिए, तर्क से नहीं, और प्रवचन, मेधा, बहुश्रुत (अनेक अध्ययन), तप, यज्ञ आदिओं से भी नहीं, इस प्रकार हमने पूर्व आचार्यों के वचन सुना है।* **य आचार्या नोऽस्मभ्यं तद्ब्रह्म व्याचचक्षिरे व्याख्यातवन्तो विस्पष्टं कथितवन्तस्तेषामित्यर्थः।। ३।।** *जो आचार्य हमें उस ब्रह्म की व्याख्या की अर्थात् स्पष्ट रूप से कहा था। यह अभिप्राय है। (अभिप्राय यह है कि आचार्य के मुख से उपनिषदों के श्रवण से ही ज्ञान होता है, और कोई उपाय नहीं है।)।। ३।।*

यद्वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।। ४।।

जो वाणी से प्रकाशित नहीं होता किन्तु जिससे वाणी प्रकाशित होती है, उसे तुम ब्रह्म जानो। जिसकी तुम इदं रूपसे अर्थात् अपनी आत्मा से भिन्न रूप से उपासना करते हो वह ब्रह्म नहीं है।। ४।।

टीका– कहे गये अर्थ में लौकिक, तार्किक, मीमांसकों की प्रतिपत्ति (समझ) रूप विरोध की आशंका करके विदित से अन्य का कथन के लिए उसका निराकरण करते हैं– **अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधीत्यनेन वाक्येनाऽऽत्मा ब्रह्मेति प्रतिपादिते श्रोतुराशंका जाता तत्कथं त्वात्मा ब्रह्म।** *वह विदित से अन्य है तथा अविदित से अन्य है इस वाक्य से आत्मा ब्रह्म है यह प्रतिपादित होने पर श्रोता की आशंका हुई कि आत्मा ब्रह्म कैसे हो सकता है।* **आत्मा हि नामाधिकृतः कर्मण्यु–पासने च संसारी, कर्मोपासनं वा साधनमनुष्ठाय ब्रह्मादिदेवान्स्वर्गं वा प्राप्तुमिच्छति तत्तस्मादन्य उपास्यो विष्णुरीश्वर इन्द्रश्च प्राणो वा ब्रह्म भवितुमर्हति न त्वात्मा।** *कर्म या उपासना में जो अधिकारी है, उस संसारी जीव को आत्मा कहते हैं। वह कर्म या उपासना रूप साधनों का अनुष्ठान करके ब्रह्मा आदि देवता या स्वर्ग प्राप्त करना चाहता है। उस आत्मा से अन्य उपास्य ईश्वर विष्णु, इन्द्र या प्राण ब्रह्म हो सकते हैं। आत्मा ब्रह्म नहीं हो सकता।* **लोक प्रत्यय विरोधात्।** *क्योंकि इससे लोगों की समझ का विरोध होगा।* **यथाऽन्ये तार्किका ईश्वरादन्य आत्मेत्याचक्षते तथा कर्मिणः 'अमुं यजामुं यज' इत्यन्या एव देवता उपासते।** *जैसे तार्किक ईश्वर से भिन्न आत्मा कहते हैं और कर्मी 'उसका यजन करो उसका यजन करो' इस प्रकार अन्य देवता की उपासना करते हैं।* **तस्मादुक्तं यद्विदितमुपास्यं तद् ब्रह्म भवेत्। ततोऽन्य उपासक इति।** *इसलिए जो उपास्य विदित है वह ब्रह्म है यह कहना उचित होगा। उससे भिन्न उपासक है, इस प्रकार।* **तामेतामाशंकां शिष्यलिंगेनोपलक्ष्य तद्वा–क्याद्वाह मैवं शंकिष्ठाः।** *इस आशंका को शिष्य की मुखाकृति से समझते हुए अथवा उसके वाक्य से जानते हुए आचार्य ने कहा ऐसी शंका मत करो।* **यच्चैतन्यमात्रसत्ताकं वाचा वागिति जिह्वामूलादिष्वष्टसु स्थानेषु**

विषक्तमाग्नेयं वर्णानामभिव्यंजकं करणं *जो चैतन्यमात्र सत्ता वाली वह वाणी की वाणी - जिह्वामूल आदि आठ स्थानों में संलग्न, अग्नि देवता से अधिष्ठित, वर्णों की अभिव्यक्ति का साधन को वाणी कहते हैं।* **टीका**- **'अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा। जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च।।'** वक्ष, कण्ठ, शिर-मूर्धा, जिह्वामूल, दन्त, नासिका, होठ और तालु ये वर्णोंके आठ स्थान है। यहाँ से इनका उच्चारण होता है। इन आकाश प्रदेशों में आश्रित होने से आकाश उपादानत्व सूचित होता है। आग्नेयं का अर्थ है अग्निदेवता वाला।

वाचा से वाक् इन्दिय रूप करण ही नहीं कहा जाता किन्तु वर्ण भी कहे जाते हैं। कहा है कि -**'यावन्ता यादृशा ये च यदर्थप्रतिपादकाः। वर्णाः प्रज्ञातसामर्थ्यास्ते तथैवावबोधकाः।'** प्रज्ञात सामर्थ्य वाले जितने जैसे जो वर्ण जिस अर्थ के प्रतिपादक होते हैं वे वैसे ही अवबोधक होते हैं। इस पर कहते हैं - **वर्णाश्चार्थ संकेतपरिच्छिन्ना एतावन्त एवं क्रमप्रयुक्ता इत्येवं** *अर्थ संकेत से परिच्छिन्न वर्ण इतने हैं और इस क्रम से प्रयुक्त हुए हैं, इस प्रकार।* **टीका** - गौः इस पद में गकार औकार और विसर्ग इस विशेष क्रम से अवच्छिन्न है यह तो मीमांसकों का मत है।

स्फोटवादी वैयाकरणों के मत से कहते हैं- **तदभिव्यंग्यशब्दः पदं वागित्युच्यते।** *उन वर्णों से अभिव्यंजित शब्द अर्थात् पद, वाणी कही जाती है।* **टीका** - वर्णों से जो स्फुटित-व्यंजित-लक्षित होता है उसको स्फोट कहते हैं अर्थात् पद वाक्य आदि बुद्धि का प्रमाणक स्फोट है। क्योंकि बुद्धि एक रूप होने से अनेक वर्णों का आलंबन असंभव है। कहे गये वाक्य के अर्थ में श्रुति का प्रमाण देते हैं- **''अकारो वै सर्वा वाक्सैषा स्पर्शान्तस्थोष्मभिर्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति' इति श्रुतेः।** *अकार ही समस्त वाणी है। वह स्पर्श (क से म तक) अन्तस्थ (य र ल व) और ऊष्म (श ष स ह) के द्वारा अभिव्यक्त होता हुआ अनेक रूप वाला होता है।' यह श्रुति है।'* **टीका** - अकार प्रधान ओंकार उपलक्षित स्फोट नाम वाली चित्शक्ति समस्त वाणी है। वह स्पर्श अन्तस्थ और

ऊष्मा से व्यक्त है। क से ले कर म तक स्पर्श है। यरलव अन्तःस्थ है, शषसह ऊष्मा है। उन विशेष क्रम से अवच्छिन्न होता हुआ व्यक्त होकर अनेक रूप हो जाती है। **मितममितं स्वरः सत्यानृते एव विकारो यस्या-स्तस्या वाचा पदत्वेन परिच्छिन्नया करणगुणवत्याऽनभ्युदितमप्रकाशित-मनभ्युक्तं-** *मित, अमित, स्वर, सत्य अनृत रूप विकार वाली चाणी से अर्थात् पदरूप से परिच्छिन्न करण गुण वाली वाणी से वह ब्रह्म प्रकाशित नहीं होता है या कथन नहीं किया जाता है।* **टीका** - नियत अक्षर पाद अवसान ऋचा मित, अनियत अक्षर पाद अवसान यजु अमित, तथा गीति प्रधान साम स्वर कहा जाता है। जैसे देखा वैसे कहना सत्य है और उसके विपरीत असत्य है। करण वाक् इन्द्रिय है गुण अर्थात् उपसर्जन जिसकी वह करण-गुणवती। चेतन पुरुष में जो वाक् शक्ति है वह घोष अर्थात् वर्णों में प्रतिष्ठित है क्योंकि उससे व्यंजित है। (शब्द के जिस व्यापार से मुख्य और लक्ष्य अर्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति हो उसे व्यंजना कहते हैं। व्यंजना से विशेष अर्थ का ज्ञान कराने वाले शब्द को व्यंजक कहते हैं) **येन ब्रह्मणा विवक्षितेऽर्थे सकरणा वागभ्युद्यते, चैतन्य-ज्योतिषा प्रकाश्यते प्रयुज्यते इत्येतत्। यद्वाचो ह वागित्युक्तं वदन्वाक्।** *किन्तु जिस ब्रह्म से विवक्षित अर्थ में करण सहित वाक् कही जाती है अर्थात् चैतन्य ज्योति द्वारा प्रकाशित होकर प्रयुक्त होती है। जिसे पहले वाणी की वह वाणी रूप में कहा गया है। बोलने से वाक्।* **यो वाचम-न्तरो यमयतीत्यादि च वाजसनेयके।** *बृहदारण्यक में कहा है कि जो वाणी के अन्दर रहकर वाणी का नियमन करता है वह ब्रह्म है।* **'या वाक्पुरु-षेषु सा घोषेषु प्रतिष्ठिता कश्चित्तां वेद ब्राह्मणः' इति प्रश्नमुत्पाद्य प्रतिव-चनमुक्तम् 'सा वाग्यया स्वप्ने भाषते' इति।** *'जो पुरुषों में वाणी है वह घोष (ध्वनि) में प्रतिष्ठित है, क्या उसे कोई ब्राह्मण जानता है?' इस प्रकार प्रश्न करके श्रुति उत्तर देती है 'वह वाणी है जिससे स्वप्न में बोलते हैं।' इस प्रकार।* **सा हि वक्तुर्वक्तिर्नित्या वाक्चैतन्यज्योतिःस्वरूपा।** *वह चैतन्य-ज्योति स्वरूप नित्य वाणी वक्ता की वक्ति (शक्ति) है।* **'न हि**

वक्तुर्वक्तेर्विपरिलोपो विद्यते' इति श्रुतेः। *वक्ता की वाक्शक्ति का लोप कभी भी नहीं होता है' इस प्रकार श्रुति प्रमाण है।* **तदेवाऽऽत्मस्वरूपं ब्रह्म निरतिशयं भूमाख्यं बृहत्त्वाद्ब्रह्मेति विद्धि विजानीहि त्वम्।** *वही भूमा नामवाला निरतिशय आत्मा का स्वरूप ब्रह्म को जानो। बृहत् होने से ब्रह्म है।*

टीका– तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि में जो एव कार है उसका अर्थ कहते हैं– **यैर्वागाद्युपाधिभिः वाचो ह वाक्चक्षुषश्चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनः कर्ता भोक्ता विज्ञाता नियन्ता प्रशासिता विज्ञानमानन्दं ब्रह्मेत्यवमादयः संव्यवहारा असंव्यवहार्ये निर्विशेषे परे साम्ये ब्रह्मणि प्रवर्तन्ते तान्व्युदस्या–ऽऽत्मानमेव निर्विशेषं ब्रह्म विद्धीत्येवशब्दार्थः।** *जिन वाक् आदि उपाधियों से, वाणी की वाणी,चक्षु का चक्षु, श्रोत्र का श्रोत्र, मनका मन, कर्ता, भोक्ता, विज्ञाता, नियन्ता, प्रशासिता, विज्ञान, आनन्द ब्रह्म इत्यादि व्यवहार, उस असंव्यवहार, निर्विशेष, पर, साम्य ब्रह्म में प्रवृत्त होते हैं, उन उपाधियों को हटा कर आत्मा को ही निर्विशेष ब्रह्म जानो। यह एव शब्द का अर्थ है।* **नेदं ब्रह्म यदिदमित्युपाधिभेदविशिष्टमनात्मेश्वराद्युपासते ध्यायन्ति।** *वह ब्रह्म नहीं है, जिसे लोग इदं रूप से अर्थात् उपाधि भेद से विशिष्ट अनात्मा ईश्वर आदि रूप में उपासना करते हैं अर्थात् ध्यान करते हैं।* **तदेव ब्रह्म त्वं विद्धीत्युक्तेऽपि नेदं ब्रह्मेत्यनात्मनोऽब्रह्मत्वं पुन–रुच्यते नियमार्थमन्यब्रह्मबुद्धिपरिसंख्यानार्थं वा।। ४।।** *उस आत्मा को ब्रह्म जानो यह कहने के बाद दूबारा यह ब्रह्म नहीं है इस प्रकार अनात्मा का अब्रह्म कहना नियम विधि है अथवा अन्य ब्रह्म बुद्धि परिसंख्या विधि हैं।*
टीका – दूसरे पक्ष अनात्मा में भी ब्रह्मबुद्धि प्राप्त होने पर आत्मा ही ब्रह्म है इस प्रकार नियमन के लिए यह अर्थ है। अन्य उपास्य में जो ब्रह्मबुद्धि है उसके निराकरण के लिए दूबारा अब्रह्मत्व का कथन है।। ४।।

यन्मनसा न मनुते येनाऽहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।। ५।।

जो मन के द्वारा मनन नहीं होता किन्तु जिससे मन मनन क्रिया करता है, उसे तुम ब्रह्म जानो। जिसकी तुम इदं रूप से अर्थात् अपनी आत्मा से भिन्न रूप से उपासना करते हो वह ब्रह्म नहीं है।। ५।।

यन्मनसा न मनुते। मन इत्यन्तःकरणं बुद्धिमनसोरेकत्वेन गृह्यते। *यन्मनसा न मनुते। मन का अर्थ यहाँ अन्तःकरण है। बुद्धि और मन को एक मानकर यहाँ मन का ग्रहण होता है।* **मनुतेऽनेनेति मनः सर्वकरणसाधारणं सर्वविषयव्यापकत्वात्।** *इसके द्वारा मनन होता है, इससे मन कहते हैं। रूप, रस आदि समस्त विषयों में व्याप्त होने से यह समस्त चक्षुरादि करणों में साधारण है।* **'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव' इति श्रुतेः।** *श्रुति में कहा है कि 'काम (कामना), संकल्प, विचिकित्सा (संदेह), श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति (धैर्य), अधृति, ह्री (लज्जा), धी (बुद्धि), भी (भय) यह सब मन ही है।'* **कामादिवृत्तिमन्मनस्तेन मनसा यच्चैतन्यज्योतिर्मनसोऽ-वभासकं न मनुते न संकल्पयति नापि निश्चिनोति।** *जो चैतन्य ज्योति मन का अवभासक है, उसे काम आदि वृत्तिवाले मन संकल्प या निश्चय नहीं कर सकता है।* ***मनसोऽवभासकत्वेन नियन्तृत्वात्।*** *क्योंकि वह मनके अवभासक होने से उसका नियन्ता है।* **सर्वविषयं प्रति प्रत्यगेवेति स्वात्मनि न प्रवर्ततेऽन्तःकरणम्।** *समस्त विषयों के प्रति आन्तर होने से अन्तःकरण आत्मा में पृवृत्त नहीं होता है।* **अन्तःस्थेन हि चैतन्यज्यो-तिषाऽवभासितस्य मनसो मननसामर्थ्यं, तेन सवृत्तिकं मनो येन ब्रह्मणा मतं विषयीकृतं व्याप्तमाहुः कथयन्ति ब्रह्मविदः।** *अन्दर स्थित चैतन्य ज्योति से अवभासित होता हुआ मन का मनन में सामर्थ्य होता है। वह वृत्ति के साथ मन जिस ब्रह्म के द्वारा विषयीकृत अर्थात् व्याप्त है, इस प्रकार ब्रह्मज्ञानी कहते हैं।* **तस्मादेव मनस आत्मानं प्रत्यक्चेतयितारं ब्रह्म विद्धि। नेदमित्यादि पूर्ववत्।। ५।।** *इसलिए हि मन के अन्दर का चेतयिता (चेताने वाले) आत्मा को ब्रह्म जान। नेदं इत्यादि पूर्व के समान है।। ५।।*

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूँषि पश्यति।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।। ६।।

चक्षु इन्द्रिय द्वारा जो देखा नहीं जाता किन्तु जिससे चक्षु इन्दिय देखती है, उस आत्मचैतन्य ज्योति को तुम ब्रह्म जानो। जिसकी तुम इदं रूपसे अर्थात् अपनी आत्मा से भिन्न रूप से उपासना करते हो वह ब्रह्म नहीं है।। ६।।

यच्चक्षुषा न पश्यति न विषयी करोत्यन्तःकरणवृत्तिसंयुक्तेन, येन चक्षुंष्यन्तःकरणवृत्तिभेदभिन्नाश्चक्षुर्वृत्तिः पश्यति लोक श्चैतन्यात्मज्योतिषा विषयी करोति व्याप्नोति। तदेवेत्यादि पूर्ववत् ।। ६।। *जिसे लोग चक्षु के द्वारा नहीं देख पाते हैं अर्थात् अन्तःकरणवृत्ति से युक्त चक्षु द्वारा विषय नहीं कर पाते हैं, जिस चैतन्य आत्मज्योति द्वारा अन्तःकरणवृत्ति के भेद से संयुक्त चक्षुवृत्ति देखती है अर्थात् विषय करती है अर्थात् व्याप्त करती है। तदेव इत्यादि पूर्वके समान है। अर्थात् उसे तुम ब्रह्म जानो। जिसकी तुम इदं रूप से अर्थात् अपनी आत्मा से भिन्न रूप से उपासना करते हो वह ब्रह्म नहीं है।। ६।।* **टीका** – सब कुछ स्पष्ट है, इसलिए व्याख्या नहीं की।। ५,६।।

यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदँ श्रुतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।। ७।।

जो श्रवण इन्दिय द्वारा सुना नहीं जाता अर्थात् जो श्रवण इन्द्रिय का विषय नहीं है जिस आत्मचैतन्य ज्योति द्वारा श्रवण इन्द्रिय शब्दों को सुनती है, उसे तुम ब्रह्म जानो। जिसकी तुम इदं रूप से अर्थात् अपनी आत्मा से भिन्न रूप से उपासना करते हो वह ब्रह्म नहीं है।। ७।।

यच्छ्रोत्रेण न शृणोति दिग्देवताधिष्ठितेनाऽऽकाशकार्येण मनोवृत्ति-संयुक्तेन न विषयी करोति लोको येन श्रोत्रमिदं श्रुतं यत्प्रसिद्धं चैतन्यात्म-ज्योतिषा विषयीकृतं तदेवेत्यादि पूर्ववत्।। ७।। *जो श्रोत्र द्वारा सुना नहीं जाता अर्थात् जिसे लोग दिशा देवता अधिष्ठित, आकाश के कार्य, मन*

की वृत्ति से युक्त, श्रोत्र इन्द्रिय द्वारा विषय नही करते, किन्तु जिससे यह श्रोत्र सुना जाता है अर्थात् जो प्रसिद्ध चैतन्यज्योति द्वारा विषय होता है। तदेव इत्यादि पूर्वके समान है अर्थात् उसे तुम ब्रह्म जानो। जिसकी तुम इदं रूप से अर्थात् अपनी आत्मा से भिन्न रूप से उपासना करते हो वह ब्रह्म नहीं है।। ७।।

यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।। ८।।

इति प्रथमः खण्डः।। १।।

जो घ्राण इन्द्रिय द्वारा सूँघा नहीं जाता अर्थात् उसका विषय नहीं है, जिस चैतन्यज्योति आत्मासे घ्राण इन्द्रिय सूँघने का कार्य करता है, उसे तुम ब्रह्म जानो। जिसकी तुम इदं रूपसे अर्थात् अपनी आत्मा से भिन्न रूप से उपासना करते हो वह ब्रह्म नहीं है।। ८।।

यत्प्राणेन घ्राणेन पार्थिवेन नासिकापुटान्तरवस्थितेनान्तःकरणप्राण-वृत्तिभ्यां सहितेन यन्न प्राणिति गन्धवन्न विषयी करोति येन चैतन्यात्म-ज्योतिषाऽवभास्यत्वेन स्वविषयं प्राणः प्रणीयते। तदेवेत्यादि सर्वं समानम्।। ८।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छंकरभगवत्पादकृतौ केनोपनिषत्पद्भाष्ये प्रथमः खण्डः।। १।।

यत्प्राणेन- प्राण से अर्थात् अन्तःकरण और प्राणवृत्ति के सहित नासिका पुट के अन्दर स्थित पार्थिव घ्राण इन्द्रिय द्वारा जो गन्धवाला होकर उसका विषय नहीं होता है, किन्तु जिस चैतन्य आत्मज्योति के प्रकाश से घ्राण इन्द्रिय अपने विषय को विषय करता है। तदेव इत्यादि सब पूर्व के समान अर्थ वाला है। (उसे तुम ब्रह्म जानो। जिसकी तुम इदं रूपसे अर्थात् अपनी आत्मा से भिन्न रूप से उपासना करते हो वह ब्रह्म नहीं है)।। ८।।

इस प्रकार श्रीमत्परमहंस तपोनिष्ठ कैलास आश्रम के आचार्य हरिहर तीर्थ के चरण सेवक श्रीविष्णुतीर्थ द्वारा केन उपनिषद की पदभाष्य के प्रथम खण्ड की हिन्दी रूपान्तर समाप्त हुआ।। १।।

अथ द्वितीयः खण्डः

यदि मन्यसे सुवेदेति दहरमेवापि नूनम् त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपं यदस्य त्वं यदस्य च देवेष्वथ नु मीमाँस्यमेव ते मन्ये विदितम्।। १।।

यदि तुम मानते हो कि तुमने ब्रह्म को अच्छी तरह जान लिया है, तब तो तुमने ब्रह्म के स्वरूप को अल्प ही जाना। इस ब्रह्म के स्वरूप को तुम अध्यात्म उपाधियों से जो समझते हो वह अल्प है वैसे जो तुम अधिदैवत उपाधि देवताओं में समझते हो वह भी अल्प ही है। ऐसी स्थिति में तुम्हें दुबारा विचार करना चाहिए। विचार के बाद शिष्य कहता है कि अब मैं मानता हूँ कि मैं ब्रह्म को आत्मा से अभिन्न जाना हूँ।। १।।

एवं हेयोपादेयविपरीतस्त्वमात्मा ब्रह्मेति प्रत्यायितः शिष्योऽहमेव ब्रह्मेति सुष्ठु वेदाहं मामिति गृह्णीयादित्याशंक्याऽऽचार्यः शिष्यबुद्धिविचाल- नार्थं यदीत्याह। *हेय और उपादेय से विपरीत तुम्हारी आत्मा ब्रह्म है इस प्रकार समझाया गया शिष्य कहीं यह न समझ बैठे कि मैं ही ब्रह्म हूँ ऐसे मैने अच्छी प्रकार से जानता हूँ, मुझे इस प्रकार (ज्ञानी के रूप में लोग) ग्रहण करें, इसी प्रकार आशंका करके आचार्य शिष्य की बुद्धि को विचलित करने के लिए यदि इत्यादि श्रुति का वचन है।* **नन्विष्टेव सुवेदाहमिति निश्चिता प्रतिपत्तिः।** *शंका- मैं अच्छी तरह से जाना यह निश्चित ज्ञान इष्ट है?* **सत्यमिष्टा निश्चिता प्रतिपत्तिर्न हि सुवेदाहमिति।** *निश्चित ज्ञान इष्ट है यह बात सत्य है। किन्तु अच्छी तरह से जाना यह ठीक नहीं।* **यद्धि वेद्यं वस्तु विषयी भवति तत्सुष्ठु वेदितुं शक्यं दाह्यमिव दग्धुमग्नेर्दग्धुर्न त्वग्नेः स्वरूपमेव।** *जानने योग्य जो वस्तु ज्ञान का विषय होता है, वह अच्छी तरह जानने योग्य हो सकता है, जैसे जलानेवाले अग्नि जलने वाली लकड़ी को जला सकती है। किन्तु अग्नि अपने स्वरूप को नहीं जला सकती।*

टीका– शंका– भले ब्रह्म जाननेवाले का स्वरूप होने से विषय नहीं हो सकता है, किन्तु वह जानने वाले का स्वरूप है इसमें प्रमाण नहीं है ? ब्रह्म, स्वरूप से अतिरिक्त होने से इसमें सुष्टु वेदन में क्या कठिनाई है ? इस पर कहते हैं – **सर्वस्य हि वेदितुः स्वात्मा ब्रह्मेति सर्ववेदान्तानां सुनिश्चितोऽर्थः। इह च तदेव प्रतिपादितं प्रश्नप्रतिवचनोक्त्या श्रोत्रस्य श्रोतमित्याद्यया।** *सभी जानने वालों की आत्मा ब्रह्म है, यह सभी वेदान्त (उपनिषत्) का सुनिश्चित अर्थ है। यहाँ भी श्रोत्र का श्रोत्र इस प्रकार प्रश्न और प्रतिवचनों से प्रतिपादित हुआ है।* **यद्वाचाऽनभ्युदितमिति विशेषतोऽवधारितम्।** *जो वाणी से प्रकाशित नहीं होता है, इस प्रकार विशेष रूप से निश्चय किया गया है।* **ब्रह्मवित्संप्रदायनिश्चयश्चोक्तोऽन्य-देव तद्विदितादथो विदितादधीत्युपन्यस्तमुपसंहरिष्यति चाविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानतामिति।** *वह विदित और अविदित से भिन्न है, इस कथन से ब्रह्मज्ञानी संप्रदाय का निश्चय भी कहा गया है। जानने वालों के लिए वह अज्ञात और नहीं जानने वालों के लिए वह ज्ञात है इस प्रकार उपसंहार में इस बात को कहेंगे।* **तस्माद्युक्तमेव शिष्यस्य सुवेदेति बुद्धि निराकर्तुम्।** *इसलिए शिष्य की अच्छी प्रकार जानता हूँ इस बुद्धि का निराकरण करना युक्तियुक्त है।* **न हि वेदिता वेदितुर्वेदितुं शक्योऽग्निरिव दग्धुमग्नेः।** *ज्ञाता, ज्ञाता को अर्थात् अपने स्वरूप को नहीं जान सकता है। जैसे अग्नि अपने को नहीं जला सकती।* **न चान्यो वेदिता ब्रह्मणो-ऽस्ति यस्य वेद्यमन्यत्स्यात्ब्रह्म। 'नान्यदतोस्ति विज्ञातृ' इत्यन्यो विज्ञाता प्रतिषिध्यते।** *ब्रह्म से भिन्न और कोई ज्ञाता नहीं है, जिसके ज्ञेय (ज्ञान का विषय) अन्य ब्रह्म होगा। 'इससे भिन्न कोई विज्ञाता नहीं है' इस उपनिषद् वाक्य से ब्रह्म से अतिरिक्त किसी और विज्ञाता का प्रतिषेध है।* **तस्मात्सुष्ठु वेदाहं ब्रह्मेति प्रतिपत्तिर्मिथ्यैव। तस्मादुक्तमेवाऽऽहाचार्यो यदीत्यादि।** *इसलिए मैं अच्छी तरह से ब्रह्म को जानता हूँ ऐसी बुद्धि मिथ्या ही है। इसलिए आचार्य ने जो कहा यदि वह युक्तिसंगत है।*

टीका– यदि शब्द के प्रयोग में क्या कारण है, इस पर कहते हैं – **यदि कदाचिन्मन्यसे सुवेदेति सुष्ठु वेदाहं ब्रह्मेति। कदाचिद्यथाश्रुतं दुर्विज्ञेयमपि क्षीणदोषः सुमेधाः कश्चित्प्रतिपद्यते कश्चिन्नेति साशंकमाह यदीत्यादि।** *यदि अर्थात् शायद यह मानते हो कि मैं अच्छी तरह ब्रह्म को जानता हूँ। जैसे सुना गया है कि ब्रह्म दुर्विज्ञेय है फिर भी दोष रहित बुद्धिमान कोई जानता है कोई नहीं जानता है, इसलिए आशंका के सहित कहते हैं यदि इत्यादि।* **दृष्टं च 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते एष आत्मेति होवाचैददमृतमभयमेतद्ब्रह्म' इत्युक्ते प्राजापत्यः पण्डितोऽप्यसुर–राड्विरोचनः स्वभावदोषवशादनुपपद्यमानमपि विपरीतमर्थं शरीरमात्मेति प्रतिपन्नः।** *देखा गया है कि 'जो यह आँख में पुरुष दीखता है यह आत्मा है, यह अमृत और अभय है, यह ब्रह्म है' इस प्रकार प्रजापति के कहने पर प्रजापति के सन्तान विद्वान होते हुए भी असुरों का राजा विरोचन ने स्वभाव दोष के कारण न समझता हुआ भी उलटा अर्थ शरीर को आत्मा समझा।* **टीका**– आँख में शरीर का प्रतिरूप दीखता है इससे यथा प्रसिद्ध उपदेश को ग्रहण करते हुए (जैसे यह गौ है कहने से गौ का शरीर समझा जाता है वैसे) विरोचन ने शरीर को आत्मा करके जाना। **तथेन्द्रो देवराट्सकृद्द्विस्त्रिरुक्तं चाप्रतिपद्यमानः स्वभावदोषक्षयमपेक्ष्य चतुर्थे पर्याये प्रथमोक्तमेव ब्रह्म प्रतिपन्नवान्।** *वैसे देवराज इन्द्र एक, दो, तीन बार कहे जाने पर न समझता हुआ स्वभाव दोष के क्षय की अपेक्षा करते हुए चौथी बार समझाने के बाद पहले कहे हुए ब्रह्म को जाना।* **टीका** – (३२ वर्ष गुरुकुल वास के उपरान्त) 'जो यह नेत्र में पुरुष दीखता है' इस प्रकार पहली बार (३२ वर्ष गुरुकुल वास के उपरान्त)'जो यह स्वप्न में महिमा को अनुभव करता है' दूसरी बार, (महिमा अर्थात् स्त्री आदि से पूजित होता है अर्थात् स्वप्न के भोगों को भोगता है) (३२ वर्ष गुरुकुल वास के उपरान्त) 'जहाँ सोया हुआ अर्थात् सुषुप्ति में यह आनन्द को अनुभव करता है' तीसरी बार कहे जाने पर भी आत्मा को नहीं जानता हुआ इन्द्र अधर्म आदि दोष के क्षय के लिए (पुनः ५वर्ष) ब्रह्मचर्य का पालन

करते हुए चतुर्थ पर्याय में 'यह संप्रसाद अर्थात् जीवात्मा इस शरीर भावना से ऊपर उठकर, पर ज्योति को प्राप्त कर' इस उपदेश से पहले कहे हुए ब्रह्म को जाना, यह अर्थ है। **लोकेऽप्येकस्माद्गुरोः शृण्वतां कश्चिद्यथावत्प्रतिपद्यते कश्चिदयथावत्कश्चिद्विपरीतं कश्चिन्न प्रतिपद्यते किमु वक्तव्यमतीन्द्रियमात्मतत्त्वम्।** *संसार में भी एक ही गुरु से सुनने वालों में कोई यथावत् अर्थात् पूरा समझता है, कोई अयथावत् अर्थात् अधूरा, कोई उलटा और कोई नहीं समझता है। फिर इन्द्रियों से परे आत्मतत्त्व के विषय में क्या कहना ?* **अत्र हि विप्रतिपन्ना सदसद्वादिनस्तार्किकाः सर्वे।** *इस आत्मा के विषय में सभी सत्वादी असद्वादी तार्किक, विपरीत अर्थ समझ बैठे हैं।* **तस्माद्विदितं ब्रह्मेति सुनिश्चितोक्तमपि विषमप्रति-पत्तित्वाद्यदि मन्यस इत्यादि साशंकं वचनं युक्तमेवाऽऽचार्यस्य।** *इसलिए ब्रह्म विदित है ऐसा सुनिश्चित कहे जाने पर भी समझना कठिन होने से आयार्च का यदि मन्यसे इत्यादि आशंका पूर्वक वचन युक्तिसंगत है।* **दहरमल्पमेवापि नूनं त्वं वेत्थ जानीषे ब्रह्मणो रूपम्।** *(यदि समझते हो कि अच्छी तरह जान लिया तो) तुमने ब्रह्म के स्वरूप को दहर अर्थात् अल्प ही जाना है।* **किमनेकानि ब्रह्मणो रूपाणि महान्त्यर्भकाणि च येनाऽऽह दहर-मेवेत्यादि।** क्या ब्रह्म के बडे छोटे अनेक रूप हैं, जिससे अल्प ही इत्यादि कहा ? **टीका**– अर्भक का अर्थ अल्प है। **बाढम्। अनेकानि हि नामरूपोपाधिकृतानि ब्रह्मणो रूपाणि न स्वतः। स्वतस्तु 'अशब्दमस्पर्श-मरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्' इति शब्दादिभिः सह रूपाणि प्रतिषिध्यन्ते।** *ठीक् है। (बाढ शब्द अर्ध स्वीकृति में प्रयोग होता है) नाम, रूप उपाधि को लेकर ब्रह्म का अनेक रूप है। किन्तु स्वतः अर्थात् स्वरूप से नहीं। स्वरूप से तो 'शब्द, स्पर्श, रूप रहित, व्यय रहित, रसहीन, नित्य, गन्धहीन जो है' इन से शब्द आदि के साथ रूप का भी प्रतिषेध किया गया है।*

टीका – स्वरूप से ब्रह्म का कोई रूप नहीं है इस पर आक्षेप करते हैं – **ननु येनैव धर्मेण यद्रूप्यते तदेव तस्य स्वरूपमिति ब्रह्मणोऽपि**

येन विशेषणेन निरूपणं तदेव तस्य रूपं स्यादत उच्यते। *शंका- जिस धर्मसे जिसका निरूपण होता है वह उसका स्वरूप होता है, इससे ब्रह्म का भी जिन विशेषणों से निरूपण होता है वे उसका स्वरूप होना चाहिए ? इस पर कहते हैं।*

टीका - फिर किस विशेषण से ब्रह्म का निरूपण होता है ऐसी आशंका होने पर कहते हैं कि चैतन्य रूपसे ब्रह्मका निरूपण होता है - **चैतन्यं पृथिव्यादीनामन्यतमस्य सर्वेषां विपरिणतानां वा धर्मो न भवति। तथा श्रोत्रादीनामन्तःकरणस्य च धर्मो न भवतीति ब्रह्मणो रूपमिति। ब्रह्म रूप्यते चैतन्येन।** *पृथिवी आदि पंच महाभूतों में किसी एक का अथवा उनके परिणाम घट पट आदिका चैतन्य धर्म नहीं है। वैसे श्रोत्र आदि इन्द्रियों का और अन्तःकरण का भी चैतन्य धर्म नहीं है, इससे चैतन्य ब्रह्म का रूप है। चैतन्य से ब्रह्म का निरूपण होता है।* **टीका** - शरीर आदि आकार में परिणत समष्टि या व्यष्टि पंच महाभूतों का चैतन्य धर्म नहीं है क्योंकि ऐसा बाहर उपलब्ध नहीं है, चैतन्य उनके धर्म होगा तो रूप आदि के समान बाहर उपलब्ध होगा। तो उनको सिद्ध करने वाला अर्थात् जानने वाला कौन होगा। वैसे श्रोत्र आदि भी भौतिक होने से चैतन्य धर्म वाले नहीं है। परिशेष से स्वतन्त्र चैतन्य ब्रह्म का रूप है।

टीका- इस में श्रुति की संमति कहते हैं - **तथा चोक्तम् - 'विज्ञानमा- नन्दं ब्रह्म' 'विज्ञानघन एव' 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' 'प्रज्ञानं ब्रह्म' इति च ब्रह्मणो रूपं निर्दिष्टं श्रुतिषु।** *वैसे ही कहा है 'विज्ञानं आनन्द ब्रह्म है' 'वह विज्ञान घन है' 'सत्य ज्ञान और अनन्त ब्रह्म है' 'प्रज्ञान ब्रह्म है' इस प्रकार ब्रह्म का स्वरूप श्रुति में निर्दिष्ट है।* **सत्यमेवं तथाऽपि तदन्तःकरणदेहेन्द्रियोपाधिद्वारेणैव विज्ञानादिशब्दैर्निर्दिश्यते** - *सत्य है कि चैतन्य ब्रह्म का रूप है। फिर भी अन्तःकरण, देह, इन्द्रिय उपाधि द्वारा हि विज्ञान आदि शब्दों से ब्रह्म का निर्देश किया जाता है।* **टीका** - ब्रह्म का पारमार्थिक रूप चैतन्य है, यह बात सत्य है, फिर भी उपाधि के द्वारा उसका निर्देश नहीं हो सकता है, वह कैसे ? क्योंकि ब्रह्म का

निरूपण अर्थात् निर्देश शब्द द्वारा होता है, स्वतः नहीं होता है ? इस अभिप्राय को लेकर कहते हैं कि अन्तःकरण की अभिव्यक्ति को देख कर, उपाधि की अभिव्यक्ति का निमित्त जो चैतन्य है वह ब्रह्म है, इस प्रकार ब्रह्म का निर्देश होता है।

टीका - शंका- उपाधि और उपहित का संबन्ध होता है। तो असंग चैतन्य का देहादि उपाधि कैसे ? ऐसी शंका होनेपर कहते हैं - **तदनुकारित्वाद्देहादिवृद्धिसंकोचच्छेदादिषु नाशेषु च न स्वतः।** *क्योंकि देह आदि के वृद्धि, संकोच, उच्छेद और नाश आदि में उनके अनुकारी अर्थात् अनुकरण करता है। किन्तु स्वतः वह वैसा कुछ भी नहीं है।* **टीका** - जैसे जल के हिलने से सूर्य हिलता हुआ, अलग करने से अलग जैसा मिथ्या है, और उसके धर्म के भागी होने से जल को सविता की उपाधि कही जाती है, संबन्ध के कारण नहीं। क्योंकि दूरस्थ सूर्य का जल से संयोग आदि संबन्ध नहीं हो सकता। वैसे देह आदि का संकोच, वृद्धि, उच्छेद आदि में और दाह आदि नाश में, मिथ्या देह-धर्म के भागि होने से देह आदि चैतन्य की उपाधि कही जाती है।

टीका- शंका - तब तो यह सिद्ध हुआ कि चैतन्य रूप से ब्रह्म का निर्देश स्वतः नहीं होता है। शब्द आदि के द्वारा होता है। फिर उसका अनुभव कैसे होता है ? इस पर कहते हैं - **स्वतस्त्वविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानतामिति स्थितं भविष्यति।** *स्वतः तो विषय रूप से जानने वालों के लिए वह अविज्ञात है और विषय रूप से नहीं जाननेवालों के लिए वह विज्ञात है।* **टीका** - अविषय रूप से अर्थात् विषय से उपरक्त हुए बिना चैतन्य का स्फुरण ब्रह्म का अनुभव है। यह अर्थ है। **यदस्य ब्रह्मणो रूपमिति पूर्वेण संबन्धः।** *यदस्य इस शब्द का पहले दो शब्द ब्रह्मणो रूपं के साथ संबन्ध है। अर्थात् यदस्य के बाद दुबारा ब्रह्मणो रूपं जोड़ कर अर्थ लगाना।* **न केवलमध्यात्मोपाधिपरि-च्छिन्नस्यास्य ब्रह्मणो रूपं त्वमल्पं वेत्थ यदप्यधिदैवतोपाधिपरिच्छिन्नस्यास्य ब्रह्मणो रूपं देवेषु वेत्थ त्वं तदपि नूनं दहरमेव वेत्थेति मन्येऽहम्।** *न*

केवल आध्यात्मिक उपाधि से परिच्छिन्न इस ब्रह्म के रूप को तुमने अल्प जाना, अपितु जो अधिदैवत उपाधि से परिच्छिन्न इस ब्रह्म के रूप को देवताओं में तुम जाना वह भी निश्चय ही अल्प ही जाना, ऐसा मैं मानता हूँ। **यदध्यात्मं यदधिदैवं तदपि च देवेषूपाधिपरिच्छिन्नत्वाद्दहरत्वान्न निवर्तते।** *जो अध्यात्म है, जो अधिदेव है वह भी देवताओं में उपाधि परिच्छिन्न होने से अल्प होने में नहीं चूक सकता है। अर्थात् परिच्छिन्न होने से अल्प है।* **यत्तु विध्वस्तसर्वोपाधिविशेषं शान्तमनन्तमेकमद्वैतं भूमाख्यं नित्यं ब्रह्म न तत्सुवेद्यमित्यभिप्रायः।** *जो तो समस्त विशेष उपाधियों से रहित, शान्त, अनन्त, एक, अद्वैत, भूमा नामवाला, नित्य ब्रह्म है वह सुवेद्य नहीं है, यह अभिप्राय है।* **यत एवमथ नु तस्मान्मन्ये-ऽद्यापि मीमांस्यं विचार्यमेव ते तव ब्रह्म।** *जब की ऐसी बात है इसलिए अब मानता हूँ कि अभि भी तुम्हें ब्रह्म का विचार करना चाहिए।* **एवमाचार्योक्तः शिष्य एकान्त उपविष्टः समाहितः सन्यथोक्तमाचार्येणाऽऽ-गममर्थतो विचार्य तर्कतश्च निधार्य स्वानुभवं कृत्वाऽऽचार्यसकाशमुपगम्यो-वाच मन्येऽहमथेदानीं विदितं ब्रह्मेति।। *१।।*** *इस प्रकार अचार्य से उपदिष्ट शिष्य एकान्त में बैठकर, समाहित चित होकर, आचार्य के कहे हुए मार्ग से आगम (उपनिषद्) का विचार कर, तर्क से निश्चय कर, अनुभव को प्राप्त कर, आचार्य के निकट जाकर कहा- अब मानता हूँ कि मैं ब्रह्म को जाना है।। १।।* **टीका**- वेद्य होने से घट आदिके समान अनात्मता का प्रसंग होगा, इत्यादि तर्कों से ब्रह्म आत्मा का कभी वेद्य नहीं हो सकता है, इस प्रकार निर्धारण करके, अज्ञान, संशय आदि के अभाव के कारण अपना अनुभव प्राप्त कर, यह अर्थ है।। १।।

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च।। २।।

मैंने ब्रह्म को किस प्रकार समझा हूँ वह कहता हूँ। ब्रह्म सुवेद है यह मैं नहीं मानता हूँ। नहीं जाना ऐसा भी नहीं। ब्रह्म को जाना, नहीं भी जाना। हमारे साथी ब्रह्मचारियों में जो कोई उस मेरे कहे हुए वचन

को तत्त्व से जानता है वही उस ब्रह्म को जानता है। वह वचन क्या है इस पर कहते हैं नहीं जाना ऐसी वात नहीं जाना भी नहीं जाना भी।। २।।

कथमिति शृणुत। नाहं मन्ये सुवेदेति नैवाहं मन्ये सुवेद ब्रह्मेति। *कैसे जाना उसे सुनो। ब्रह्म सुवेद है यह मैंने कदापि नहीं जाना।* **नैव तर्हि विदितं त्वया ब्रह्मेत्युक्ते आह– नो न वेदेति वेद च। वेद चेति च शब्दान्न वेद च।** *तब तो तुमने ब्रह्म को नहीं जाना, ऐसा आचार्य के कहने पर कहता है– नहीं जाना ऐसी बात नहीं। जाना है। च शब्द से नहीं भी जाना है।* **ननु विप्रतिषिद्धं नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च। यदि न मन्यसे सुवेदेति कथं मन्यसे वेद चेति। अथ मन्यसे वेदैवेति कथं न मन्यसे सुवेदेति।** *शंका – यह विरुद्ध कथन है कि मैंने उसे सुवेद करके नहीं जाना, नहीं जाना ऐसी बात नहीं, जाना और नहीं जाना। यदि सुवेद करके नहीं मानते हो तो वेद करके कैसे माना। यदि वेद करके माना तो सुवेद करके कैसे नहीं मानते हो।* **एकं वस्तु येन ज्ञायते तेनैव तदेव वस्तु न सुविज्ञायत इति विप्रतिषिद्ध संशयविपर्ययौ वर्जयित्वा।** *संशय और विपर्यय को छोड़ कर एक वस्तु जिस व्यक्ति द्वारा जानी जाती है उसी के द्वारा वही वस्तु अच्छी प्रकार नहीं जानी जाती है यह परस्पर विरुद्ध बात है।* **न च ब्रह्म संशयितत्वेन ज्ञेयं विपरीतत्वेन वेति नियन्तु शक्यम्।** *संशय रूप से या विपरीत रूप से ब्रह्म जानने योग्य है, ऐसा नियमन करना संभव नहीं है।* **संशयविपर्ययौ हि सर्वत्रान–र्थकरत्वेनैव प्रसिद्धौ।** *संशय और विपरीत भावना सर्वत्र अनर्थ कारक रूप में प्रसिद्ध है।* **एवमाचार्येण विचाल्यमानोऽपि शिष्यो न विचचाल।** *इस प्रकार आचार्य के द्वारा विचलित करने पर भी शिष्य विचलित नहीं हुआ।* **'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' इत्याचार्योक्तागमसंप्रदायबला–दुपपत्त्यनुभवबलाच्च जगर्ज च ब्रह्मविद्यायां दृढनिश्चयतां दर्शयन्नात्मनः।** *वह विदित और अविदित से अन्य है' इस प्रकार आचार्य के कहे हुए आगम संप्रदाय बल से तथा तर्क और अनुभव बल से ब्रह्मविद्या में*

अपनी दृढ़ निश्चय को दिखाते हुए गर्जना की। अर्थात् दृढ़ता पूर्वक कहा। **कथमित्युच्यते। यो यः कश्चिन्नोऽस्माकं सब्रह्मचारिणां मध्ये तन्मदुक्तं वचनं तत्त्वतो वेद स तद्ब्रह्म वेद।** *शिष्य ने कैसे कहा इस पर कहते हैं - हमारे साथी ब्रह्मचारियों में जो कोई उस मेरे कहे हुए वचन को तत्त्व से जानता है वही उस ब्रह्म को जानता है।* **किं पुनस्तद्वचन-मित्यत आह- नो न वेदेति वेद चेति।** *वह वचन किस प्रकार का है इस पर कहता हैं- नहीं जाना ऐसी बात नहीं, जानता हूँ और नहीं भी जानता हूँ।*

टीका - आचार्य के वचन से पृथक् वचन शिष्य ने कहा ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए इस पर कहते हैं - **यदेवान्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधीत्युक्तं वस्त्वनुमानानुभवाभ्यां संयोज्य निश्चितं वाक्यान्तरेण नो न वेदेति वेद चेत्यवोचदाचार्यबुद्धिसंवादार्थं मन्दबुद्धिग्रहणव्यपोहार्थं च।** *जो आचार्य द्वारा 'विदित और अविदित से वह अन्य है' कहा गया वस्तु अनुमान और अनुभव को मिलाकर निश्चय करके, आचार्य की बुद्धि संवाद के लिए अर्थात् आचार्य में विश्वास उत्पन्न करने के लिए तथा मन्दबुद्धि शिष्यों की ग्रहण योग्यता का निराकरण के लिए आचार्य के वाक्य से भिन्न वाक्य से कहा ' नही जाना ऐसी बात नहीं, जानता हूँ और नहीं भी जानता हूँ।'* **तथा च गर्जितमुपपन्नं भवति यो नस्तद्वेदेति।।२।।** *वैसा होने पर ही 'योनस्तद्वेद' इत्यादि यह गर्जना उचित ठहराता है।। २।।* **टीका**- तथा च- आचार्य की बुद्धिसंवाद होने पर अर्थात् आचार्य के कहे हुए अर्थ से भिन्न अर्थ के न कहने पर।। २।।

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्।। ३।।

जिसके लिए ब्रह्म विषय रूप से अमत अर्थात् अविदित है उससे हि ब्रह्म का स्वरूप स्वप्रकाश रूप से मत अर्थात् विदित है। जिसके लिए सोपाधिक ब्रह्म विदित है उससे वह ब्रह्म अविदित है। क्योंकि जानने

वालों के लिए वह अविज्ञात और नहीं जानने वालों के लिए वह विज्ञात है।। ३।।

शिष्याचार्यसंवादात्प्रतिनिवृत्य स्वेन रूपेण श्रुतिः समस्तसंवाद-निर्वृत्तमर्थमेव बोधयति यस्यामतमित्यादिना। *शिष्य-आचार्य संवाद से निवृत्त होकर अपने आप श्रुति समस्त संवाद से संपन्न(निचोड़) अर्थ को समझा रही है यस्यामतं इत्यादि मंत्रों से।* **यस्य ब्रह्मविदो अमतमविज्ञात-मविदितं ब्रह्मेति मतमभिप्रायो निश्चयस्तस्य मतं ज्ञातं सम्यग्ब्रह्मेत्यभिप्रायः।** *जिस ब्रह्मज्ञानी का, ब्रह्म अमत अर्थात् अविज्ञात अर्थात् अविदित है, ऐसा अभिप्राय अर्थात् निश्चय है, तो उसने यथार्थ रूप से ब्रह्म को जाना है।* **यस्य पुनर्मतं ज्ञातं विदितं मया ब्रह्मेति निश्चयो न वेदैव स न ब्रह्म विजानाति सः।** *जिसका यह मानना है कि मैंने ब्रह्म को जाना है तो उसने ब्रह्म को नहीं जाना है।* **विद्वदविदुषोर्यथोक्तो पक्षावधारयति अविज्ञातममतमविदितमेव ब्रह्म, विजानतां सम्यग्विदितवतामित्येतत्।** *विद्वान और अविद्वानों के कहे गये दोनों पक्षों का निश्चय कहते हैं- विजानतां अर्थात् सम्यक् जानने वालों के लिए ब्रह्म अविज्ञात अर्थात् अमत अर्थात् अविदित ही है।* **विज्ञातं विदितं ब्रह्माविजानतामसम्यग्दर्शिनामिन्द्रियमनो-बुद्धिष्वेवाऽऽत्मदर्शिनामित्यर्थः। न त्वत्यन्तमेवाव्युत्पन्नबुद्धीनाम्। न हि तेषां विज्ञातमस्माभिब्रह्मेति मतिर्भवति।** *अविजानतां अर्थात् असम्यक् दर्शी अर्थात् इन्द्रिय-मन-बुद्धि आदिमें आत्मबुद्धि करने वालों अज्ञानियों के लिए ब्रह्म विज्ञात अर्थात् विदित है। अत्यन्त अव्युत्पन्न बुद्धि (सामान्य बुद्धि) वालों के लिए नहीं। हमने ब्रह्म को जाना उनकी ऐसी बुद्धि नहीं होती है।* **इन्द्रियमनोबुद्ध्युपाधिष्वात्मदर्शिनां तु ब्रह्मोपाधिविवेकानुपलम्भाद्-बुद्ध्याद्युपाधेश्च विज्ञातत्वाद्विदितं ब्रह्मेत्युपपद्यते भ्रान्तिरित्यतः सम्यग्दर्शन-पूर्वपक्षत्वेनोपन्यस्यते विज्ञातमविजानतामिति। अथवा हेत्वर्थ उत्तरार्धोऽवि-ज्ञातमित्यादिः।। ३।।** *इन्द्रिय-मन-बुद्धि उपाधियों में आत्मा को देखने वालों का तो ब्रह्म से उपाधियों का विवेक के अभाव के कारण बुद्धि आदि उपाधि विज्ञात होने से ब्रह्म विदित हुआ है, ऐसी भ्रान्ति संभव है,*

इससे 'विज्ञातं अविजानतां' सम्यक् ज्ञान के पूर्वपक्ष रूप से कहा गया है। अथवा 'अविज्ञातं विजानतां' उत्तरार्ध, पूर्वार्ध के हेतु अर्थ के लिए है।। ३।।

प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते।
आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम्।। ४।।

बोध बोध के प्रति जो विदित है, बोध अर्थात् बुद्धि से होने वाले प्रत्यय अर्थात् ज्ञान, प्रत्येक प्रत्यय जिसके विषय होते हैं वह आत्मा है। मत अर्थात् यह सम्यक् दर्शन है। इस प्रकार के ज्ञान से निश्चित रूप से अमृतत्व अर्थात् अमरत्व को प्राप्त करता है। वह कैसे? आत्मना अपने स्वरूप से वीर्य अर्थात् बल या सामर्थ्य को प्राप्त करता है। आत्मा को विषय करने वाली विद्या (ज्ञान) से अमरत्व को प्राप्त करता है।। ४।।

टीका - ब्रह्म में ज्ञातता का अवबोध (ज्ञान) न होने से मैं ब्रह्म हूँ ऐसा व्यवहार कैसे होता है? ऐसी शंका होने पर कहते हैं इंट ढ़ोने वाले को रत्नपेटिका की चिन्ता क्यों हो रही है। जो कह रहे हैं कि वस्तु का प्रकाश व्यवहार का अंग होना इष्ट होने से ज्ञात होना यह व्यवहार का अंग है, पर यहाँ वास्तविक ज्ञातता की अपेक्षा नहीं है। अव्युत्पन्न को व्युत्पन्न करने के लिए शंका को दिखाते हैं- **अविज्ञातं विजानता-मित्यवधृतम्। यदि ब्रह्मात्यन्तमेवाविज्ञातं लौकिकानां ब्रह्मविदां चाविशेषः प्राप्तः। अविज्ञातं विजानतामिति परस्परविरुद्धम्। कथं तु तद्ब्रह्म सम्यग्विदितं भवतीत्येवमर्थमाह** –*ब्रह्म को जाननेवालों के लिए वह अविज्ञात है, ऐसा निश्चय किया गया। यदि ब्रह्म अत्यन्त अविज्ञात है, तो लौकिक और ब्रह्मज्ञानी में समानता प्राप्त हुई अर्थात् कोई भेद नहीं रहा। दूसरी बात यह है कि जाननेवालों के लिए वह अविज्ञात है यह परस्पर विरुद्ध बात है। फिर वह ब्रह्म किस प्रकार सम्यक् जाना जाता है ऐसी शंका पर कहते हैं।* **टीका** - बुद्धि के विकार नील, पीत आदि जड़ वस्तुओंका जो चैतन्य व्याप्त होने से अजड़ (चैतन्य) जैसा अवभास

है, उस साक्षी को उपलक्ष्य करके महावाक्य से (सोऽयमात्मा ब्रह्म) वह यह आत्मा ब्रह्म मैं हूँ, इस प्रकार अविषय रूप से जो जानता है, वह ब्रह्मज्ञानी है। इससे अज्ञानी और ज्ञानी का भेद क्या रहा ऐसी शंका का अवसर ही नहीं है। इस पर कहते हैं- **प्रतिबोधविदितं बोधं बोधं प्रति विदितम्। बोध शब्देन बौद्धाः प्रत्यया उच्यन्ते। सर्वे प्रत्यया विषयी भवन्ति यस्य स आत्मा सर्वबोधान्प्रतिबुध्यते सर्वप्रत्ययदर्शी चिच्छक्तिस्वरूपमात्रः प्रत्ययैरेव प्रत्ययेष्वविशिष्टतया लक्ष्यते नान्यद्द्वारमात्मनो विज्ञानायातः प्रत्ययप्रत्यगात्मतया विदितं ब्रह्म यदा तदा तन्मतं तदा तत्सम्यग्दर्शन-मित्यर्थः।** *प्रतिबोधविदित अर्थात् बोध बोध के प्रति जो विदित है। बोध शब्द से बुद्धि के प्रत्यय कहे जाते हैं। सारे प्रत्यय जिस के विषय होते हैं, वह आत्मा समस्त बोधों को जानता है, अर्थात् समस्तप्रत्ययों का द्रष्टा, चैतन्य-शक्ति-स्वरूप मात्र। प्रत्ययों के द्वारा प्रत्ययों में सामान्य रूप से लक्षित होता है।* **टीका** - प्रत्ययों में सामान्य रूप से अनुगत रूप से यह अर्थ है। *इसके अतिरिक्त आत्मा की उपलब्धि में और कोई रास्ता नहीं है। इसलिए प्रत्ययों के अन्तरात्मा रूप से जब ब्रह्म विदित होता है तब वह मत है अर्थात् वह सम्यक् ज्ञान है। यह अर्थ है।* **टीका** - जिस चैतन्य स्वरूप से मैं यहाँ साक्षी हूँ, उसका सर्वत्र सामान्य रूप से विद्यमान होने से, केवल एक ही देहमें मैं साक्षी नहीं हूँ, किन्तु भेद के उत्पत्ति आदि साक्ष्यगत होने से, साक्षी एक है, नित्य है इत्यादि सिद्ध होता है। इस बात को कहते हैं- **सर्वप्रत्ययदर्शित्वे चोपजननापायवर्जित-दृक्स्वरूपतानित्यत्वं विशुद्धस्वरूपत्वमात्मत्वं निर्विशेषतैकत्वं च सर्वभूतेषु सिद्धं भवेत्। लक्षणभेदाभावाद्व्योम्न इव घटगिरिगुहादिषु।** *समस्त प्रत्ययों के द्रष्टा होने से वृद्धि और क्षय से वर्जित, द्रष्टा-स्वरूपता नित्य, विशुद्धस्वरूपत्व आत्मत्व, और निर्विशेषता एकत्व, समस्त प्राणियों में सिद्ध होता है। (द्रष्टा स्वरूप से नित्य, विशुद्ध स्वरूप से आत्मा, और निर्विशेषता से एक है यह सिद्ध होता है)। जैसे लक्षण के भेद न होने से घट, पर्वत और गुफा आदि में आकाश का भेद नहीं है।*

टीका– विदितत्व और अविदितत्व साक्षीगत होने से (साक्षी में होने से) उससे भिन्न होना भी इसी पक्ष में सिद्ध होता है, इस पर कहते हैं– **विदिताविदिताभ्यामन्यद्ब्रह्मेत्यागमवाक्यार्थः, एवं परिशुद्ध एवोपसंहृतो भवति। 'दृष्टेर्द्रष्टा श्रुतेः श्रोता मतेर्मन्ताविज्ञातेर्विज्ञाता' इति हि श्रुत्यन्तरम्।** *विदित और अविदित से भिन्न ब्रह्म है, ऐसा श्रुति के वाक्य का अर्थ है। इस प्रकार परिशोधन करके ही यहाँ उपसंहार किया गया है। 'दृष्टि का द्रष्टा, श्रुति का श्रोता, मति का मन्ता, विज्ञान का विज्ञाता' इस प्रकार दूसरी श्रुति है।*

टीका – एकदेशी व्याख्या को उठाकर उसका खंडन करते हैं – **यदापुनर्बोधक्रियाकर्तेति बोधक्रियालक्षणेन तत्कर्तारं विजानातीति बोध–लक्षणेन विदितं प्रतिबोधविदितमिति व्याख्यायते। यथा यो वृक्षशाखाश्चाल–यति स वायुरिति। तदा बोधक्रियाशक्तिमानात्मा द्रव्यं न बोधस्वरूप एव।** *जैसे जो वृक्ष की शाखा को हिला रहा है वह वायु है इसमें चलन क्रिया से उसके कर्ता समझा जाता है वैसे जब बोध लक्षण से विदित प्रतिबोध विदित इस प्रकार बोध क्रिया के कर्ता रूप में अर्थात् बोध क्रिया लक्षण से उस के कर्ता को जानता है, इस प्रकार व्याख्या करते हैं। तब बोधक्रिया शक्तिवाला आत्मा द्रव्य होगा बोधस्वरूप नहीं होगा।* **बोधस्तु जायते विनश्यति च। यदा बोधो जायते तदा बोधक्रियया सह विशेषः। यदा बोधो नश्यति तदा नष्टबोधो द्रव्यमात्रं निर्विशेषः।** *बोध तो उत्पन्न होता है और नष्ट होता हैं जब बोध उत्पन्न होता है तब बोध क्रिया के साथ आत्मा विशिष्ट होगा। अर्थात् बोधविशिष्ट आत्मा। जब बोध नष्ट होगा तब नष्टवोध वाला निर्विशिष्ट द्रव्य मात्र रह जायगा।* **तत्रैवं सति विक्रियात्मकः सावयवोऽनित्योऽशुद्ध इत्यादयो दोषा न परिहर्तुं शक्यते।** *ऐसी स्थिति में आत्मा में विकारी होना, अवयववाला होना, अनित्य, अशुद्ध आदि होना दोषों का परिहार नहीं किया जा सकता।* **यदपि काणादानामात्मनः संयोगजो बोध आत्मनि समवैति। अत आत्मनि बोद्धृत्वं नतु विक्रियात्मक आत्मा। द्रव्यमात्रस्तु भवति घट इव रागसमवायी।** *और*

जो वैशेषिकों का मत है कि आत्मा और मन के संयोग से उत्पन्न हुआ बोध आत्मा में समवाय संबन्ध से रहता है। (वे समवाय संबन्ध को नित्य मानते हैं)। इसलिए आत्मा में बोद्धृत्व है किन्तु आत्मा विकारी नहीं है। नील-पीत आदि वर्णो के समवायी घट के समान आत्मा द्रव्य मात्र है। **अस्मिन्पक्षेऽप्यचेतनं द्रव्यमात्रं ब्रह्मेति 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्याद्याः श्रुतयो बाधिताः स्युः।** *इस पक्ष में भी ब्रह्म अचेतन (जड़) द्रव्य मात्र होगा। तब 'विज्ञान आनन्द ब्रह्म' इत्यादि श्रुतिवाक्य बाधित हो जायगी।*

टीका- अग्नि के संयोग से जैसे घट लाल हो जाता है, वैसे असमवायी कारण आत्मा का मन के साथ संयोग से अचैतन्य स्वरूप आत्मा में चैतन्य उत्पन्न होता है यह न केवल श्रुति से विरुद्ध है अपि तु असंभव है इसे कहते हैं - **आत्मनो निरवयवत्वेन प्रदेशाभावात्।** *क्योंकि आत्मा निरवयव होने से प्रदेश का अभाव है। अर्थात् सावयव में संयोग होता है। निरवयव में यह संभव नहीं है।*

टीका - वैशिषिक शंका करता है कि प्रदेशवाला का प्रदेशवालों के साथ संयोग देखा गया है। अर्थात् अवयववाला का अवयववाले से संयोग देखा गया है। आत्मा प्रदेश रहित होने से अर्थात् निरवयव होने से मन के साथ संयोग संभव नहीं है इस प्रकार आपने (सिद्धान्ती ने) जो कहा है वह ठीक नहीं है। क्योंकि एकसाथ समस्त मूर्त द्रव्यों के साथ आत्मा का संयोग होता है, और वह सर्वगत अर्थात् व्यापक है। इसलिए आत्मा का मन के साथ संयोग हो सकता है। ऐसी शंका होने पर भाष्यकार कहते हैं- **नित्यसंयुक्तत्वाच्च मनसः स्मृत्युत्पत्तिनियमानुपपत्तिरपरिहार्या स्यात्।** *आत्मा के साथ मन का नित्य संयोग मानोगे तो स्मृति की उत्पत्ति का नियम की अनुपपत्ति (अयुक्तता) अपरिहार्य हो जायगा। अर्थात् स्मृति की उत्पत्ति कैसे होगी।* **टीका-** वैशेषिकों का नियम है कि अनुभव समय से भिन्न समय में स्मृतियों का क्रम से उत्पत्ति होती है। तो आपके सिद्धान्त की हानी होगी। अनुभव के समय भी स्मृतियों की उत्पत्ति का प्रसंग होगा। क्योंकि संस्कार के समान आत्मा और मन का

संयोग सामान्य है। (अर्थात् जिस समय स्मृति होगी उस समय आत्मा मनका संयोग और इन्द्रियों का विषयों से सनिकर्ष भी होगा)

टीका– सर्वगत अर्थात् समस्त व्यवधान रहित (अधिष्ठान रूप से सब के साथ तादात्म्य) होना, संयोगित्व की कल्पना नहीं कर सकते हो। इस पर कहते हैं– **संसर्गधर्मित्वं चाऽऽत्मनः श्रुतिस्मृतिन्यायविरुद्धं कल्पितं स्यात्।** *आत्मा का संसर्गधर्मी वाला होना यह श्रुति, स्मृति और न्याय (तर्क) से विरुद्ध, कल्पित होगा।* **'असंगो न हि सज्जते' 'असक्तं सर्वभृत्' इति श्रुतिस्मृती द्वे।** *'आत्मा असंग है उसका किसीसे संग-संबन्ध नहीं है' 'संगरहित सब का भरण करने वाला है' ये दो श्रुति और स्मृति के उदाहरण हैं।*

टीका– न्याय विरुद्ध कहा है उसको स्पष्ट करते हैं– **न्यायश्च गुणवद्गुणवता संसृज्यते नातुल्यजातीयम्।** *तर्क इस प्रकार है कि गुणवाले का गुणवाले के साथ संसर्ग होता है असमान जाति वालों का संसर्ग नहीं होता है। अर्थात् निर्गुण का गुणवाले के साथ संसर्ग नहीं हो सकता है।* **अतो निर्गुणं निर्विशेषं सर्वविलक्षणं केनचिदप्यतुल्यजातीयेन संसृज्यत इत्येतन्न्यायविरुद्धं भवेत्।** *इसलिए निर्गुण निर्विशेष सब से विलक्षण (आत्मा) का किसी विजातीय (मन आदि) के साथ संसर्ग, यह न्याय से विरुद्ध होगा।* **तस्मान्नित्यालुप्तविज्ञानस्वरूपज्योतिरात्मा ब्रह्मेत्ययमर्थः सर्वबोधबोद्धृत्व आत्मनः सिध्यति नान्यथा।** *इसलिए नित्य अलुप्त विज्ञान स्वरूप प्रकाशमय आत्मा ब्रह्म है, यह अर्थ आत्मा के समस्त बोधों के बोद्धा अर्थात् प्रकाशक होने से सिद्ध हो सकता है, अन्यथा नहीं।* **तस्मात्प्रतिबोधविदितं मतमिति यथाव्याख्यात एवार्थोऽस्माभिः।** *इसलिए हमने 'प्रतिबोधविदितं मतं' की जैसी व्याख्या की है वह सही अर्थ है।*

टीका– एकदेशी की दूसरी व्याख्या का अनुवाद करके उसे दूषित करते हैं– **यत्पुनः स्वसंवेद्यता प्रतिबोधविदितमित्यस्य वाक्यस्यार्थो वर्ण्यते।** *जो एकदेशी 'प्रतिबोधविदितं मतं' इस वाक्य का अर्थ स्वसंवेद्यता करते हैं अर्थात् आत्मा आत्मा को जानता है, ऐसा अर्थ करते हैं,* **टीका**– जो

वेद्य (ज्ञातव्य) वस्तु है वह वेदिता और वेदन (ज्ञाता और ज्ञान) से भिन्न है, जैसे घट आदि है, इस प्रकार व्याप्ति के विरोध होने से स्वसंवेद्यता वास्तव में उपपन्न नहीं है। उससे बुद्धि आदि में आत्मभाव का आरोपण कर, आत्मा के द्वारा आत्मा का वेद्यता कहना चाहिए, इससे निरुपाधिक स्वरूप स्थिति नहीं होगा, इस पर कहते हैं- **तत्र भवति सोपाधिकत्वे आत्मनो बुद्ध्युपाधि स्वरूपत्वेन भेदं परिकल्प्याऽऽत्मनाऽऽत्मानं वेत्तीति संव्यवहारः। 'आत्मनैवाऽऽत्मानं पश्यति' 'स्वयमेवाऽऽत्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम' इति। न तु निरुपाधिकस्याऽऽत्मन एकत्वे स्वसंवेद्यता परसंवेद्यता वा संभवति।** *वहाँ आत्मा को सोपाधिक मानने से बुद्धि आदि उपाधि द्वारा आत्मा का भेद की कल्पना कर आत्मा से आत्मा को जानता है ऐसा व्यवहार होता है। 'आत्मा के द्वारा आत्मा को देखता है' 'हे पुरुषोत्तम आप अपनी आत्मा से अपनी आत्मा को जानते हो' इत्यादि वाक्यों से कहा गया है। किन्तु निरुपाधिक आत्मा के एक होने पर स्वसंवेद्यता या परसंवेद्यता संभव नहीं है।*

टीका– काणाद मत मे स्वसंवेद्यता अनंगीकार बल से परवेद्यता की प्रसक्ति होगी यह भी नहीं कहना चाहिए। इस पर कहते हैं- **संवेदनस्वरूपत्वात्संवेदनान्तरापेक्षा च न संभवति यथा प्रकाशस्य प्रकाशा–न्तरापेक्षाया न संभवस्तद्वत्।** *जैसे प्रकाश को प्रकाशान्तर की अपेक्षा का संभव नहीं है वैसे आत्मा संवेदनस्वरूप (ज्ञानस्वरूप) होने से संवेदनान्तर की अपेक्षा संभव नहीं है।* **टीका–** बौद्धों ने स्वसंवेद्यं विज्ञान को स्वीकार किया है, फिर आपके पत में क्यों नहीं, इस पर कहते हैं- **बौद्धपक्षे स्वसंवेद्यतायां तु क्षणभंगुरत्वं निरात्मकत्वं च विज्ञानस्य स्यात्।** *बौद्धों ने विज्ञान स्वरूप आत्मा को स्वसंवेद्य माना है, उनके पक्ष में विज्ञान का स्वसंवेद्यता में क्षणभंगुर और निरात्मकता होगी।* **टीका**- प्रत्यक्ष वर्तमान का अवभासक होता है, क्षणान्तरविशिष्ट आत्मा में क्षणान्तर विशिष्ट उसी विज्ञान का प्रत्यक्ष संभव नहीं है। इसलिए आत्मा में स्वयं हि विज्ञान का प्रत्यक्ष मानोगे तो वर्तमान क्षणमात्र में उसकी सत्ता होनी

चाहिए। और भी स्वसंवेद्य रूप से साक्षी का स्वीकार न करने पर निरात्मता की प्रसक्ति होगी, वह श्रुति के विरुद्ध है। **'न हि विज्ञातु-र्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्'। 'नित्यं विभुं सर्वगतम्' 'स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयः' इत्याद्याः श्रुतयो बाध्येरन्।** *'अविनाशी होने से विज्ञाता के विज्ञान का लोप नहीं होता है' 'आत्मा नित्य, विभु, सर्वगत है' 'वह यह महान् अजन्मा आत्मा अजर, अमर, अमृत, अभय है' इत्यादि श्रुति बाधित होगी।*

टीका- प्रतिबोध वाक्य का अन्य अर्थ की शंका करते हैं- **यत्पुनः प्रतिबोधशब्देन निर्निमित्तो बोधः प्रतिबोधो यथा सुप्तस्यैत्यर्थं परिकल्पयन्ति। सकृद्विज्ञानं प्रतिबोध इत्यपरे।** *जो फिर प्रतिबोध शब्द से बिना निमित्त का बोध प्रतिबोध अर्थ की कल्पना करते हैं जैसे सोया हुआ का बोध बिना निमित्त का होता है। और दूसरे प्रतिबोध को एक झलक a single flash मानते हैं।* **टीका**- मैं ब्रह्म हूँ इस प्रकार चिन्तन करते हुए जब तक चित्त व्यापार से युक्त है तब संप्रज्ञात समाधि है चित्त के व्यापार की निवृत्ति होने पर, सुषुप्ति के आनन्द के साक्षात्कार के समान जो परम आनन्द का साक्षात्कार है वह असंप्रज्ञात समाधि है। इसे प्रतिबोध शब्द से कहा गया है। इसे वार्तिकार ने कहा है- **'अपरायत्तबोधे हि निदिध्यास-नमुच्यते' इति।** अपराधीन बोध होने पर निदिध्यासन कहा जाता है। अथवा अक्रिय ब्रह्म का आत्मा के रूप में अनुभव होने पर प्रमाता का अनुपपत्ति से दूबारा ज्ञान असंभव होने से सद्यमुक्ति का कारण सकृत्विज्ञान प्रतिबोध कहा जाता है। **'सकृत्प्रवृत्या मृद्नाति क्रियाकारकरूपभृत्। अज्ञानमागमज्ञानं सांगत्यं नास्त्यतोऽनयोः।।'** आगम से उत्पन्न ज्ञान की एक बार की प्रवृत्ति से अर्थात् एक बार आगम से उत्पन्न ज्ञान, क्रिया-कारक रूप धारण करने वाला अज्ञान को नष्ट कर देता है। इसलिए इन दोनों का (ज्ञान और अज्ञान का) सांगत्य अर्थात् एकाधिकरणता संभव नहीं है।

टीका- दानों पक्ष में अरुचि दिखाते हैं - **निर्निमित्तः सनिमित्तः सकृद्वाऽसकृद्वा प्रतिबोध एव हि सः।** *चाहे बिना निमित्त चाहे निमित्त के*

साथ, चाहे एक बार चाहे अनेक बार, वह तो प्रतिबोध ही है। **टीका**- इसका मतलब यह है। अविद्या के निवर्तक (अविद्या को हटाने वाला) आगन्तुक बोध (उत्पन्न होने वाला ज्ञान) बिना निमित्त का होना संभव नहीं है। कार्य सनिमितत्त्व से व्याप्त है। (जहाँ कार्य है वह किसी न किसी निमित्त का होना देखा गया है)। सोया हुआ का भी बिना निमित्त का बोध नहीं है, अविद्या की पूर्व पूर्व निरोध-अवस्था (सुषुप्ति अवस्था) के संस्कार से उद्भुत वैसी वृत्ति से अभिव्यक्त चैतन्य का वहाँ सुख के साक्षात्कार को स्वीकारा है। इसलिए विशेष वृत्ति के विनाश होने पर स्मरण संभव है। शंका - फिर यहाँ पर भी आवृत्ति संस्कार समूह के निवृत्त होने पर भी चित्त में ब्रह्म अभिव्यक्त होगा ? ऐसी शंका करने पर कहते हैं। नहीं। ऐसा होने पर (अर्थात् प्रमाणों से उत्पन्न वृत्ति के बिना ब्रह्म की अभिव्यक्ति मानने पर) मरे हुए पुत्र का अपरोक्ष के समान अप्रमा (मिथ्या) होने से अविद्या की निवृत्ति नहीं होगी। शाब्दज्ञान के संवाद से प्रमात्व होने से परतन्त्रता प्रसंग है, क्योंकि शब्द के कारण होने से प्रमात्व में निर्निमित्तता नहीं है। प्रारब्धकर्म के प्रतिबन्ध से वर्तमान प्रमातृत्व का आभास की निवृत्ति से असकृत् (अनेक बार) बोध भी संभव है। इस प्रकार दोनों पक्ष में किसी एक पक्ष में आदर नहीं है। अर्थात् दोनों पक्ष सही है। सर्वथा परमात्मा प्रतिबोध ही है। बोध के प्रति बोध के प्रति साक्षी रूप से वह प्रकाशित होता है।

टीका- जिसलिए लक्ष्य पदार्थ के विवेचन पूर्वक महावाक्य से उत्पन्न 'मैं परमात्मा हूँ' ऐसा ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान है, इसलिए अमृतत्व का लाभ होता है, इसे कहते हैं- **अमृतत्वममरणभावं स्वात्मन्यवस्थानं मोक्षं हि यस्माद्विन्दते लभते यथोक्तात्प्रतिबोधात्प्रतिबोधविदितात्मकात्तस्मा-त्प्रतिबोधविदितमेव मतमित्यभिप्रायः।** *अमृतत्व अर्थात्् अमरणभाव अर्थात् अपनी आत्मा में अवस्थान, मोक्ष, जिस कहे गये प्रतिबोध से मिलता है, प्रतिबोध से विदित (ज्ञात) व्यक्ति को मिलता है। इसलिए प्रतिबोध से वह आत्मा विदित है यह मत है। अर्थात् सम्यक् ज्ञान है। यह अभिप्राय है।*

टीका– कहे गये अर्थ को संक्षेप से कहते हैं– **बोधस्य हि प्रत्यगात्मा–ऽऽत्मविषयं च मतममृतत्वे हेतुः।** *अमृतत्व की प्राप्ति में प्रत्यक् आत्मा को विषय करने वाला बोध हेतु माना है।* **टीका**– बुद्धि के समस्त परिणामों का भासक प्रत्यक् चैतन्य परमात्मा नहीं है किन्तु ब्रह्माण्ड से बाहर परमात्मा है और उसकी प्राप्ति मोक्ष है, ऐसी शंका होने पर कहते हैं– **न ह्यात्मनोऽनात्मत्वममृतत्वं भवति।** *जो आत्मा से भिन्न होगा वह अनात्मा होगा, तो अनात्मा अमृत नहीं हो सकता है।* **टीका** – अनात्मा की प्राप्ति से कर्मफल के समान अनित्य होने से अमृतत्व की सिद्धि नहीं होगी। कहे गये दोष के परिहार के लिए उपाधि को लेकर ब्रह्म से आत्मा का भेद है किन्तु स्वतः तो ब्रह्म आत्मा ही है, इस पर कहते हैं– **आत्मत्वादात्मनोऽमृतत्वं निर्निमित्तमेव।** *ब्रह्म आत्मा होने से आत्मा का अमृतत्व बिना निमित्त का होता है। अर्थात् स्वतः सिद्ध है।* **टीका**– ब्रह्म आत्मा होने से आत्मा का अमृतत्व स्वभाव से सिद्ध है। तब तो विद्या में आनर्थक्य प्राप्त होगा अर्थात् विद्या की जरूरत ही क्या ? तब कहते हैं– **एवं मर्त्यत्वमात्मनो यदविद्ययाऽनात्मत्वप्रतिपत्तिः।** *अविद्या के कारण जो आत्मा को अनात्मा समझना, यही आत्मा में मर्त्यता (मरणशीलता) है।* **टीका** – अविद्या के कारण जो देह आदि को आत्मा समझना वह आत्मा की मर्त्यता है, उसकी निवृत्ति विद्या का फल है। **कथं पुनर्यथो–क्तयाऽऽत्मविद्ययाऽमृतत्वं विन्दत आह आत्मना स्वेन स्वरूपेण विन्दते लभते वीर्यं बलं सामर्थ्यं धनसहायमन्त्रौषधितपोयोगकृतं वीर्यं मृत्यु न शक्नोत्यभिववितुमनित्यवस्तुकृतत्वात्।** *फिर यथोक्त आत्मविद्या से अमृतत्व की प्राप्ति कैसे होती है ? इस पर कहते हैं– आत्मा से अर्थात् अपने स्वरूप से वीर्य अर्थात् बल अर्थात् सामर्थ्य प्राप्त करता है। धन, सहायता, मंत्र, औषधी, योग से होने वाला वीर्य अनित्य वस्तु से प्राप्त किया गया है इसलिए वह मृत्यु का पराभव नहीं कर सकता है।* **आत्मविद्याकृतं तु वीर्यमात्मनैव विन्दते नान्येनेत्यतोऽनन्यसाधनत्वादात्म–विद्यावीर्यस्य तदेव वीर्यं मृत्युं शक्नोत्यभिभवितुम्।** *आत्मविद्या से होने*

वाला सामर्थ्य तो आत्मा से ही प्राप्त होता है किसी और से नहीं। आत्मविद्या से प्राप्त सामर्थ्य अनन्य साधन होने से अर्थात् किसी अन्य साधन की अपेक्षा न रखने के कारण वह सामर्थ्य मृत्यु का पराभव कर सकता है। **यत एवमात्मविद्याकृतं वीर्यमात्मनैव विन्दतेऽतो विद्ययाऽऽत्मविषयया विन्दतेऽमृतम् 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' इत्याथर्वणे। अतः समर्थो हेतुः अमृतत्वं हि विन्दत इति।। ४।।** *क्योंकि इस प्रकार आत्मविद्या से होने वाला सामर्थ्य को साधक अपनी आत्मा से प्राप्त करता है, इसलिए आत्मा को विषय करने वाली विद्या से अमरत्व प्राप्त करता है। 'यह आत्मा बलहीन से प्राप्त नहीं होता' इस प्रकार अथर्वण शाखा के मुण्डक उपनिषदों में कहा है। इसलिए 'अमृतत्वं हि विन्दते' यह हेतु समर्थ है।। ४।।* **टीका**- अविद्या से देह आदि में आत्मभाव की जो बुद्धि है वह मर्त्यता है, उसकी निवृत्ति विद्या का फल है। मुक्ति के लिए विद्या से प्राप्त वीर्य अर्थात् बल कहा गया, वह बल ज्ञान की दृढता है। वह दृढता क्या है इस पर कहते हैं कि आकाश के समान निरवयव, और समस्त शरीर आदि से संसर्ग रहित आत्मा की स्वाभाविक मुक्तता। उससे मैं नित्य मुक्त हूँ, इस प्रकार अवष्टम्भ अर्थात् निगाढ़ प्रत्यय अर्थात् दृढता पूर्वक ज्ञान होना।। ४।।

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भुतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति।। ५।।

इस मनुष्य शरीर में यदि आत्मा के स्वरूप को जान लिया तो ठीक् है अर्थात् मनुष्य का जीवन सफल है। मनुष्य शरीर प्राप्त कर यदि इसे नहीं जाना तो बड़ा नुकसान हुआ। अर्थात् मनुष्य का शरीर धारण करना व्यर्थ हुआ। सभी प्राणियों में व्याप्त उस चैतन्य को अनात्मा से विवेक कर अनुभव करने से इस शरीर बुद्धि से ऊपर उठ कर अमर हो जाते हैं।। ५।।

टीका- आगे के वाक्य का अपेक्षित अर्थ कहते हैं- **कष्टा खलु सुरनरतिर्यकप्रेतादिषु संसारदुःखबहुलेषु प्राणिनिकायेषु जन्मजरामरण**

रोगादिसंप्राप्तिरज्ञानादत इहैव चेन्मनुष्योऽधिकृतः समर्थः सन्यद्यवेदीदात्मानं यथोक्तलक्षणं विदितवान्यथोक्तेन प्रकारेण। अथ तदास्ति सत्यं मनुष्यजन्म-न्यस्मिन्नविनाशोऽर्थवत्ता वा सद्भावो वा परमार्थता वा सत्यं विद्यते। *अज्ञान के कारण सांसारिक दुःखों के बाहुल्य देवता, मनुष्य, तिर्यक् पशुपक्षी, प्रेत आदि प्राणि समुदायों में जन्म, मरण, रोग आदि की प्राप्ति होती है। इसलिए यहाँ ही अर्थात् अधिकारी समर्थ मनुष्य यदि पहले कहे गये लक्षणों से कहे गये प्रकार से आत्मा को जान लिया तो सत्य है अर्थात् इस मनुष्य जन्म में विनाश का अभाव है, अथवा सद्भाव है अथवा पारमार्थिक सत्य है।* **टीका**- लौकिक सत्य भी चिर जीवन, और धनवान् होना। सद्भाव का अर्थ साधुभाव अथवा ख्याति। यह सब ब्रह्मज्ञानी को प्राप्त होता है, इससे स्तुति के लिए कहते हैं। परमार्थ से तो ब्रह्मरूप स्थिति रूप फल अवश्य ही प्राप्त होता है। **न चेदिहावेदीतिति। न चेदिह जीवंश्चेदधिकृतोऽवेदीन्न विदितवांस्तदा महती दीर्धऽनन्ता विनष्टिर्विनाशनं जन्मजरामरणादिप्रबन्धाविच्छेदलक्षणा संसारगतिस्तस्मादेवं गुणदोषौ विजानन्तो ब्राह्मणा भूतेषु भूतेषु सर्वभूतेषु स्थावरेषु चरेषु चैकमात्मतत्त्वं ब्रह्म विचित्य विज्ञाय साक्षात्कृत्य धीरा धीमन्तः प्रेत्य व्यावृत्य ममाहंभाव-लक्षणादविद्यारूपादस्माल्लोकादुपरम्य सर्वात्मैकत्वभावमद्वैतमापन्नाः सन्तोऽ-मृता भवन्ति इत्यर्थः। 'स यो वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इति श्रुतेः।। ५।।**

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यरीमच्छंकरभगवत्पादकृतौ केनोपनित्पदभाष्ये द्वितीयः खण्डः।। २।।

न चेदिहावेदीत्- यहाँ जीवित रहते अधिकारी उस आत्मा का यथा स्वरूप को नहीं जाना तो, अनन्त विनाश होगा, अर्थात् जन्म, जरा, मरण आदि समूहों का विच्छेद न होना लक्षण वाला संसार की गति बनी रहेगी। इसलिए इस प्रकार के गुण-दोष को जानने वाला ब्राह्मण चर अचर समस्त प्राणियों में एक आत्मतत्त्व ब्रह्म का विवेक करके अर्थात् जान करके अर्थात् साक्षात्कार करके बुद्धिमान प्रेत्य अर्थात्

अविद्या रूप मम अहंभाव लक्षण वाला इस लोक से उपरत हो कर, सब में आत्मा एकत्व भाव अद्वैत को प्राप्त करके, अमृत अर्थात् अमर हो जाते हैं। यह अर्थ है। ' वह जो कोई उस परम ब्रह्म का साक्षात्कार किया है वह ब्रह्म हो जाता है' इस प्रकार दूसरी श्रुति इसमें प्रमाण है।

इस प्रकार श्रीमत्परमहंस तपोनिष्ठ कैलास आश्रम के आचार्य, हरिहर तीर्थ के चरण सेवक श्रीविष्णुतीर्थ द्वारा केन उपनिषद की पदभाष्य के द्वितीय खण्ड की हिन्दी रूपान्तर समाप्त हुआ।। २।।

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये तस्य ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त। त ऐक्षन्तास्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति।। १।।

यह प्रसिद्ध है कि देवासुर संग्राम में ब्रह्म अर्थात् ईश्वर ने देवताओं के लिए विजय प्राप्त किया। उस ईश्वर की विजय होने पर देवता अपने को महिमा मण्डित करने लगे। उन्होंने मिथ्या निश्चय किया कि यह हमारी विजय है, यह हमारी महिमा है।। १।।

टीका– उत्तर ग्रन्थ के प्रतीक को लेकर तात्पर्य कहते है ब्रह्म इत्यादि से। **ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये।** *ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये यह मंत्र का प्रतीक है। आगे भाष्य है।* **अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् इत्यादिश्रवणाद्यदस्ति तद्विज्ञातं प्रमाणैर्यन्नास्ति तदविज्ञातं शशविषाणकल्प–मत्यन्तमेवासद्दृष्टम्।** *जानने वालों के लिए वह ब्रह्म अविज्ञात है, और नहीं जानने वालों के लिए वह विज्ञात है इत्यादि वाक्यों के श्रवण से जो है वह प्रमाणों से विज्ञात है, जो नहीं है वह प्रमाणों से विज्ञात नहीं है, इस प्रकार खरगोश के सींग के सदृश अत्यन्त ही असत् देखा गया है।*

टीका– ब्रह्मात्मज्ञान उत्तम अधिकारी का विषय किन्तु अविषय (विषयतया भान न होना) यह पहले कहा गया, अब उत्तर ग्रन्थ में मन्द अधिकारी का विषय सगुण ब्रह्म उपासना कहेंगे। उस ईश्वर परक ही आगे कहे जाने वाले समस्त वाक्य समूह है। क्योंकि (तस्यैष आदेश इत्यादि में) स्पष्ट

विधि का निर्देश है। इसलिए यहाँ तात्पर्य और अर्थान्तर, तात्पर्य का प्रदर्शन संभावना मात्र से समझना चाहिए। **तथेदं ब्रह्माविज्ञातत्वादसदेवेति मन्दबुद्धीनां व्यामोहो मा भूदिति तदर्थेयमाख्यायिकाऽऽरभ्यते।** *ऐसी बात होने पर ब्रह्म अविज्ञात होने से असत् ही है, इस प्रकार मन्दबुद्धि साधकों को मोह न हो, इस पर मोह नाश के लिए यह आख्यायिका (कथा) का आरंभ होता है।* **तदेव हि ब्रह्म सर्वप्रकारेण प्रशास्तृ देवानामपि परो देव ईश्वराणामपीश्वरो दुर्विज्ञेयो देवानां जयहेतुरसुराणां पराजयहेतु–स्तत्कथं नास्तीत्येतस्यार्थस्यानुकूलानि ह्युत्तराणि वचांसि दृश्यन्ते।** *वही ब्रह्म ही सब प्रकार से शासन कर्ता है, देवताओं का देवता और ईश्वरों का ईश्वर होता हुआ दुर्विज्ञेय है। वह देवताओं के जय का हेतु और असुरों के पराजय का हेतु है। फिर वह नहीं हो सकता है, इस अर्थ के अनुकूल उत्तर देने के लिए आगे के वचन देखा जाता हैं।* **अथवा ब्रह्मविद्यायाः स्तुतये। कथं। ब्रह्मविज्ञानाद्ध्यग्न्यादयो देवा देवानां श्रेष्ठत्वं जग्मुस्ततोऽप्यतितरामिन्द्र इति।** *अथवा ब्रह्मविद्या की स्तुति के लिए यह आख्यायिका है। कैसे ? ब्रह्म के विज्ञान से हि अग्नि आदि देवता, देवताओं में श्रेष्ठत्व प्राप्त किया। उससे भी अधिक इन्द्र इस प्रकार।* **अथवा दुर्विज्ञेयं ब्रह्मेत्येतत्प्रदर्श्यते। येनाग्न्यादयोऽतितेजसोऽपि क्लेशेनैव ब्रह्म विदितवन्तस्तथेन्द्रो देवानामीश्वरोऽपि सन्निति।** *अथवा ब्रह्म दुर्विज्ञेय है, यह इस आख्यायिका से प्रदर्शित होता है। क्योंकि अति तेजस्वी अग्नि आदि देवता भी कष्ट से ब्रह्म को जान पाये, वैसे देवताओं का स्वामी होते हुए इन्द्र भी कष्ट से जाना।* **टीका–** अभिप्रेत तात्पर्य कहते हैं – **वक्ष्यमाणोपनिषद्विधिपरं वा, सर्वं ब्रह्मविद्याव्यतिरेकेण प्राणिनां कर्तृत्वाद्यभिमानो मिथ्येत्येतद्दर्शनार्थं वाऽऽख्यायिका। यथा देवानां जयाद्यभिमानस्तद्वदिति।** *अथवा कहे जाने वाले उपनिषद् की विधि परक अर्थात् प्राणियों का सब कर्तृत्व आदि अभिमान मिथ्या है, इसी के प्रदर्शन के लिये आख्यायिका है। जैसे देवताओं का जय आदि अभिमान उसी प्रकार।*

ब्रह्म यथोक्तलक्षणं परं ह किल देवेभ्योऽर्थाय विजिग्ये जयं लब्धवद्देवा-नामसुराणां च संग्रामेऽसुरान्जित्वा जगदरातीनीश्वरसेतुभेतृन्देवेभ्यो जयं तत्फलं च प्रायच्छज्जगतः स्थेम्ने। *प्रसिद्ध है कि देवासुर संग्राम में कहे गये लक्षण वाले ब्रह्म ने, संसार की स्थिति के लिए, संसार के शत्रु ईश्वर की मर्यादा का भंग करने वाले असुरों को जीत कर देवताओं के लिए विजय प्राप्त की और देवताओं को उस विजय का फल प्रदान किया।* **टीका**- ईश्वर का सेतु अर्थात् मर्यादा, वर्णाश्रम आदि धर्म, उसके भेदक अर्थात् भंग करने वाले। जगतः स्थेम्ने अर्थात् जगत की स्थिरता के लिए। **तस्य ह किल ब्रह्मणो विजये देवा अग्न्यादयोऽमहीयन्त महिमानं प्राप्तवन्तस्तदाऽऽत्मसंस्थस्य प्रत्यगात्मन ईश्वरस्य सर्वज्ञस्य सर्वक्रियाफल-संयोजयितुः प्राणिनां सर्वशक्तेर्जगतः स्थितिं चिकीर्षोरयं जयो महिमा चेत्यजानन्तस्ते देवा ऐक्षन्तेक्षितवन्तोऽग्न्यादिस्वरूपपरिच्छिन्नात्मकृतोऽस्मा-कमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमाऽग्निवाय्विन्द्रत्वादिलक्षणो जयफलभूतो-ऽस्माभिरनुभूयते नास्मत्प्रत्यगात्मभूतेश्वरकृत इति।। १।।** *प्रसिद्ध है कि उस ब्रह्म की विजय में, अग्नि आदि देवता अपने को महिमा मण्डित करने लगे, तब संसार की स्थिति की इच्छा से, अन्तःकरण में स्थित अन्तरात्मा, प्राणियों के समस्त कर्मफल का संयोजन करने वाला, सर्वशक्ति, सर्वज्ञ, ईश्वर का यह विजय ओर महिमा है, इस बात को न जानते हुए वे देवता, अग्नि आदि स्वरूप से परिच्छिन्न आत्मा वाले अग्नि, वायु, इन्द्र आदि लक्षणवाले हमसे संपादित यह विजय है, हमारी ही यह महिमा है, जय के फलभूत हमारे द्वारा यह अनुभव किया जा रहा है। हमारे अन्तरात्मा रूप ईश्वर से यह संपादित नहीं है। इस प्रकार समझने लगे।। १।।*

तद्धैषां विजज्ञौ तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव तन्न व्यजानत किमिदं यक्षमिति।। २।।

यह प्रसिद्ध है कि अग्नि आदि देवताओं के मिथ्या अभिमान को ईश्वर ने जान लिया। उनके अहंकार को मिटाने के लिए उनके सामने

वह ईश्वर एक अद्भुत रूप में प्रकट हुआ। उसे देख कर देवताऔं ने यह समझ नहीं पाया कि यह पूज्य अद्भुत रूप वाला यक्ष कौन है।। २।।

एवं मिथ्याभिमानेक्षणवतां तद्ध किलैषां मिथ्येक्षणं विजज्ञौ विज्ञात-वद्ब्रह्म। सर्वेक्षितृ हि तत्सर्वभूतकरणप्रयोक्तृत्वाद्देवानां च मिथ्याज्ञानमुपलभ्य मैवासुरवद्देवा मिथ्याभिमानात्पराभवेयुरिति तदनुकम्पया देवान्मिथ्याभिमाना-पनोदनेनानुगृह्णीयामिति तेभ्यो ह किलार्थाय प्रादुर्बभूव स्वयोगमाहात्म्य-निर्मितेनात्यद्भुतेन विस्मापनीयेन रूपेण देवानामिन्द्रियगोचरे प्रादुर्बभूव। तत्प्रादुर्भूतं ब्रह्म न व्यजानत नैव विज्ञातवन्तो देवाः। किमिदं यक्षं पूज्यं महद्भूतमिति।। २।। *प्रसिद्ध है कि इस प्रकार मिथ्या अभिमान विचार वाले उन देवताओं का मिथ्या विचार को ईश्वर ने जान लिया। समस्त प्राणियों के करणों के प्रयोक्ता (प्रेरक) होने से ईश्वर में सब कुछ जानने का सामर्थ्य है। उन्होंने देवताओं का मिथ्या ज्ञान को जान कर, असुरों के समान देवताओं का भी मिथ्या अभिमान से पराभव न हो, ऐसी अनुकम्पा से (दया से) देवताओं का अभिमान दूर कर उन पर अनुग्रह करूँ, इस इच्छा से, उनकी भलाई के लिए प्रकट हुआ। अपने योग-माहात्य (अपनी योगमाया की महिमा) से निर्मित अत्यन्त अद्भुत विस्मय कारक स्वरूप में देवताओं के इन्द्रिय गोचर में (सामने) प्रकट हुआ। उस प्रकट हुए ईश्वर को देवताओं ने नहीं जान सके कि यह पूज्य महान प्राणि यक्ष कौन है।। २।।* **टीका**- स्वयोगमाहात्म्यनिर्मितेन अर्थात् सत्त्व-रज-तम तीनों गुणोंका योग अर्थात् युक्ति अर्थात् घटन (मिलन) अर्थात् माया, उस माया के माहात्म्य (महिमा) से निर्मित, यह अर्थ है (अपनी माया की महिमा से निर्मित)।। १५।।

तेऽग्निमब्रुवन्जातवेद एतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति तथेति।। ३।। *उन देवताओं ने अग्नि से कहा- हे जातवेद इसे जानो कि यह यक्ष कौन है। अग्निदेव ने कहा- अच्छी बात।। ३।।*

ते तदजानन्तो देवाः सान्तर्भयास्तद्विजिज्ञासवोऽग्निमग्रगामिणं जातवेदसं सर्वज्ञकल्पमब्रुवन्नुक्तवन्तो हे जातवेद एतदास्मद्गोचरस्थं यक्षं विजानीहि विशेषतो बुध्यस्व त्वं नस्तेजस्वी किमेतद्यक्षमिति। तथाऽस्त्विति।। ३।। *वे देवता उस यक्ष को न जानते हुए, आन्तरिक भय के साथ उस को जानने की इच्छा रखते हुए, अग्रगामी जातवेद सर्वज्ञकल्प अग्नि से कहा- हे जातवेद! हमारे सामने इस यक्ष को विशेष रूपसे समझो कि यह यक्ष कौन है, क्योंकि आप हमारे बीच में सबसे तेजस्वी हो। अग्नि ने कहा- ठीक है।। ३।।*

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत्कोऽसीत्यग्निर्वा अहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति।। ४।। *अग्निदेव ने उस यक्ष के पास गया। (हतप्रभ अग्नि कुछ पूछ न सका तब) यक्ष ने अग्नि से पूछा- तुम कौन हो। अग्नि ने कहा- अग्नि और जातवेदा नाम से मेरी प्रसिद्धि है। (जन्म से ही सब कुछ जानने वाला हूँ)।। ४।।*

तद्यक्षमभ्यद्रवत्तत्प्रतिगतवानग्निः। तं च गतवन्तं पिपृच्छिषुं तत्समी- पेऽप्रगल्भत्वात्तूष्णींभूतं तद्यक्षमभ्यवददग्निं प्रत्यभाषत कोऽसीति । एवं ब्रह्मणा पृष्टोऽग्निरब्रवीदग्निर्वा अग्निनामाऽहं प्रसिद्धो जातवेदा इति च नामद्वयेन प्रसिद्धतयाऽऽत्मानं श्लाघयन्।। ४।। *उस अग्नि ने यक्ष की ओर गया। गये हुए, पूछने की इच्छा वाले, उसके समीप प्रगल्भता (वाक् चातुरी) से रहित हुए, चुपचाप खड़े हुए, उस अग्नि के प्रति यक्ष ने कहा कि तुम कौन हो। इस प्रकार ईश्वर के द्वारा पूछे जाने पर, दो नामों से प्रसिद्धि दिखा कर अपनी प्रशंसा करते हुए अग्नि ने कहा कि अग्नि नाम से और जातवेदा नाम से मैं प्रसिद्ध हूँ।। ४।।*

तस्मिँस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदँसर्वं दहेयं यदिदं पृथिव्यामिति।। ५।। *यक्ष ने पूछा कि तुम में क्या सामर्थ्य है? अग्नि ने कहा कि पृथिवी में जो कुछ है उसे जला सकता हूँ।। ५।।*

इत्येवमुक्तवन्तं ब्रह्मावोचत्तस्मिन्नेवं प्रसिद्धगुणनामवति त्वयि किं

वीर्यं सामर्थ्यमिति। सोऽब्रवीदिदं जगत्सर्वं दहेयं भस्मीकुर्यां यदिदं स्थाव-रादि पृथिव्यामिति। पृथिव्यामित्युपलक्षणार्थं यतोऽन्तरिक्षस्थमपि दह्यत एवाग्निना।। ५।। *अग्नि के ऐसे कहे जाने पर ईश्वर ने कहा कि ऐसे प्रसिद्ध गुणनामवाले तुझमें क्या सामर्थ्य है? उस अग्नि ने कहा कि पृथिवी में जो कुछ चर अचर वस्तु है उन सबको मैं भस्म कर सकता हूँ। पृथिवी यह अन्तरिक्ष आदि का उपलक्षण है, क्योंकि अन्तरिक्ष में स्थित पदार्थ भी अग्नि से जल जाते हैं।। ५।।*

तस्मै तृणं निदधावेतद्दहेति तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाक दग्धुं स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्य-क्षमिति।। ६।। *ईश्वर ने उस अग्नि के सामने एक तिनका रख कर कहा कि इसे जलाओ। अग्नि ने सारी शक्ति लगाकर उसे जलाने की कोशिश की किन्तु नहीं जला सका। वह उस यक्ष के पास से लौट आया और देवताओं को कहा कि मैं इस बात को नहीं जान सका कि वह यक्ष कौन है।।। ६।।*

तस्मा एवमभिमानवते ब्रह्म तृणं निदधौ पुरोऽग्नेः स्थापितवद् ब्रह्मैतत्तृणमात्रं ममाग्रतो दह न चेदस्य दग्धुं समर्थो मुंच दग्धृत्वाभिमानं सर्वत्रेत्युक्तस्तत्तृणमुपप्रेयाय तृणसमीपं गतवान्सर्वजवेन सर्वोत्साहकृतेन वेगेन गत्वा न शशाक नाशकद्दग्धुं स जातवेदास्तृणं दग्धुमशक्तो व्रीडितो हतप्रति-ज्ञस्तत एव यक्षादेव तूष्णीं देवान्प्रति निववृते निवृतः प्रतिगतवान्। नैतद्य-क्षमशकं विज्ञातुं विशेषतो यदेतद्यक्षमिति।। ६।। *ऐसे अभिमान वाले उस अग्नि के सामने ईश्वर ने एक तिनका रखा और कहा कि मेरे सामने इस सामान्य तिनको को जला दो। यदि इस को जलाने के लिए समर्थ नहीं हो तो सर्वत्र जलाने का अभिमान को त्याग दो। इस प्रकार कहे जाने पर, अग्नि ने समस्त उत्साह सहित अति वेग से तृण की ओर झपटा। वेग से जाकर तिनके को नहीं जला सका। तिनके को जलाने में असमर्थ वह नष्टप्रतिज्ञावाला जातवेद अग्नि, लज्जित होकर, उस यक्ष से चुपचाप देवताओं के पास लौट गया। जाकर उसने देवताओं के सामने*

कहा कि यह यक्ष कौन है, इस प्रकार मैं विशेष रूप से नहीं जान सका।। ६ ।।

अथ वायुमब्रुवन्वायवेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति तथेति।। ७।। *अनन्तर देवताओं ने वायु देवता से कहा हे वायु यह जानो कि यह यक्ष कौन है। वायुने कहा ठीक है।*

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत्कोऽसीति वायुर्वा अहमस्मीत्यब्रवीन्मा-तरिश्वा वा अहमस्मीति।। ८।। *वायु ने यक्ष की ओर गया। वायु को यक्ष ने कहा कि तुम कौन हो। वायु ने कहा कि मै वायु और मातरिश्वा नाम से प्रसिद्ध हूँ।*

तस्मिँस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदँसर्वमाददीय यदिदं पृथिव्यामिति।। ९।। *ईश्वर ने पूछा तुझमें क्या सामर्थ्य है। वायु ने कहा- पृथिवी में जो कुछ है उसे मैं ग्रहण कर (उड़ा) सकता हूँ।*

तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाकाऽऽदातुं स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्ष-मिति।। १०।। *उस ईश्वर ने उसके सामने एक तिनका रख कर कहा इसे ग्रहण करो। वह संपूर्ण वेग से उसे ग्रहण करने की चेष्टा की, किन्तु वह ग्रहण करने में समर्थ नहीं हुआ। तब वायु उसके पास से लौट गया और देवताओं से कहा कि मैं नहीं जान सका कि वह यक्ष कौन है।*

अथ वायुमित्यथानन्तरं वायुमब्रुवन्हे वायवेतद्विजानीहित्यादि समानार्थं पूर्वेण। वानाद्गमनाद्गन्धनाद्वायुः। मातर्यनतरिक्षे श्वयति मातरिश्वा। इदं सर्वमप्याददीय गृह्णीयाम्। यदिदं पृथिव्यामित्यादि समानमेव।। ७।। ८।। ९।। १०।। *अथ वायुमिति- अनन्तर देवताओं ने वायु से कहा- हे वायु इस यक्ष को जानो इत्यादि पहले जैसे समान अर्थ है। (वा गति गन्धनयोः) वा धातु के अर्थ से गमन के कारण या गन्ध वाला होने से वायु कहा जाता है। मातरि अर्थात् अन्तरिक्ष में जो चलता है*

इससे मातरिश्वा कहा जाता है। यह सब कुछ आददीय अर्थात् ग्रहण करो। पृथिवी में जो कुछ है इत्यादि पहले जैसा अर्थ है।। ७-१०।।

अथेन्द्रमब्रुवन्मघवन्नेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति तथेति तदभ्यद्रवत्तस्मात्तिरोदधे।। ११।। *अब सभी देवता इन्द्र से बोले- हे मघवन्! यह जानो कि यह यक्ष कौन है। ठीक है। इन्द्र उस यक्ष की ओर गया। इन्द्र के उस यक्ष के समीप पहुँचते ही वह यक्ष तिरोहित हो गया।। ११।।*

स तस्मिन्नेवाऽऽकाशेस्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमाँ हैम-वतीं ताँ होवाच किमेतद्यक्षमिति।। १२।। *उसी आकाश प्रदेश में स्त्री रूप में विद्या प्रकट हुई। वह हिमालय की कन्या उमा बहुत ही शोभा पा रही थी। उस इन्द्र ने उमा से कहा- यह यक्ष कौन था।। १२।।*

इति तृतीयः खण्डः।। ३।।

अथेन्द्रमिति- अथेन्द्रमब्रुवन्मघवन्नेतद्विजानीहीत्यादि पूर्ववत्। इन्द्रः परमेश्वरो मघवान्बलवत्त्वात्तथेति तदभ्यद्रवत्तस्मादिन्द्रादात्मसमीपं गतात्तद्ब्रह्म तिरोदधे तिरोभूतमिन्द्रस्येन्द्रत्वाभिमानोऽतितरां निराकर्तव्य इत्यतः संवाद-मात्रमपि नादाद्ब्रह्मेन्द्राय तद्यक्षं यस्मिन्नाकाश आकाशप्रदेशे आत्मानं दर्शयित्वा तिरोभूतमिन्द्रश्च ब्रह्मणस्तिरोधानकाले यस्मिन्नाकाश आसीत्स इन्द्रस्तस्मिन्नेवाऽऽकाशे तस्थौ। *अब देवताओं ने इन्द्र से कहा- हे मघवा! इसे जानो इत्यादि पहले जैसे है। इन्द्र का अर्थ परमेश्वर है। मघवा बलवान् होने से मघवा को इन्द्र कहा गया है। इन्द्र ने उसकी ओर गया। अपने समीप आये उस इन्द्र से ईश्वर तिरोभूत हो गये। इन्द्र के इन्द्रत्व का अत्यन्त अभिमान का निराकरण (निवारण) होना चाहिए, इसलिए इन्द्र के साथ बात भी नहीं की। वह यक्ष जिस आकाश प्रदेश में अपने स्वरूप को दिखा कर अन्तर्धान हुआ था, इन्द्र भी ब्रह्म के*

तिरोधान के समय जिस आकाश प्रदेश में स्थित था, वह इन्द्र उस आकाश प्रदेश में स्थित रहा। अर्थात् हटा नहीं। **किं तद्यक्षमिति ध्यायन्न निववृतेऽग्न्यादिवत्तस्येन्द्रस्य यक्षे भक्तिं बुद्ध्वा विद्योमारूपिणी प्रादुरभूत्स्त्री-रूपा।** *उसी आकाश प्रदेश में इन्द्र वह यक्ष कौन था ऐसे ध्यान करते हुए उपस्थित रहा, अग्नि आदि के समान वहाँ से हटा नहीं। उस इन्द्र की यक्ष (ईश्वर) में भक्ति जान कर उमा रूपवाली विद्या, स्त्री रूप में प्रकट हुई।* **स इन्द्रस्तामुमां बहुशोभमानां सर्वेषां हि शोभमानानां शोभनतमां विद्यां तदा बहुशोभमानेति विशेषणमुपपन्नं भवति। हैमवतीं हेमकृताभरणवतीमिव बहुशोभमानामित्यर्थः। अथवोमैव हिमवतो दुहिता हैमवती नित्यमेव सर्वज्ञेनेश्वरेण सह वर्तत इति ज्ञातुं समर्थेति कृत्वा तामुपजगाम।** *उस इन्द्र ने अत्यन्त शोभा से संपन्न उस उमा के पास गया। विद्या समस्त शोभा देनेवालों में शोभनतम है। इसलिए बहुशोभ-माना यह विशेषण सार्थक है। हैमवती अर्थात् सोने से बने आभरण वाली के सदृश विद्या अतीव शोभायमान अर्थात् अत्यन्त सुन्दरी थी। अथवा हिमालय की कन्या हैमवती उमा, पार्वती अर्थ है। क्योंकि वह नित्य सर्वज्ञ ईश्वर के साथ नित्य रहती है इसलिए वह यक्ष को जानने में समर्थ है, इससे इन्द्र ने उमा के समीप गया।* **इन्द्रस्तां होमां किलोवाच पप्रच्छ ब्रूहि किमेतद्दर्शयित्वा तिरोभूतं यक्षमिति।। ११,१२।।** *इन्द्र ने उस उमा से पूछा- आप बतलाएँ कि इस प्रकार अपने को दिखा कर छिप जाने वाला वह यक्ष कौन था।। ११,१२।।*

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छंकरभगवत्पादकृतौ केनोपनिषत्पदभाष्ये तृतीयः खण्डः।। ३।।

सा ब्रह्मेति होवाच ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्वमिति ततो हैव विदांचकार ब्रह्मेति।। १।। *वह विद्या स्वरूपिणी उमा ने कहा - वह यक्ष ईश्वर ही है। उस ईश्वर की विजय में तुम लोगों ने महिमा को प्राप्त किया है। उस उमा से इन्द्र ने जाना कि वह यज्ञक्ष बह्म (ईश्वर) ही थ।। १।।*

सा ब्रह्मेति होवाच ह किल ब्रह्मण ईश्वरस्यैव विजय ईश्वरेणैव जिता असुरा यूयं तत्र निमित्तमात्रं तस्यैव विजये यूयं महिमानं प्राप्नुथ। एतदिति क्रियाविशेषणार्थम्। मिथ्याभिमानस्तु युष्माकमयमस्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति। ततस्तस्मादुमावाक्याद्धैव विदांचकार ब्रह्मेतीन्द्रोऽवधारणात्ततो हैवेति न स्वातन्त्र्येण।। १।। *उस उमा ने कहा कि वह यक्ष ब्रह्म (ईश्वर) ही था। यह निश्चित बात है कि ईश्वर की विजय हुई है। ईश्वर ने असुरों को जीता है। तुम लोग उसमें निमित्त मात्र हो। उस ईश्वर की विजय में तुम लोगों ने महिमा को प्राप्त किया है। एतद् क्रिया विशेषण के लिए है। यह विजय यह महिमा हमारी है, इस प्रकार यह तुम्हारा मिथ्या अभिमान है। उस उमा के वाक्य से ही इन्द्र ने जाना कि यह ब्रह्म है। तत शब्द के साथ ह और एव शब्द के प्रयोग से यह अवधारणा अर्थात् निश्चय है कि वह स्वतन्त्र से ब्रह्म को नहीं जाना किन्तु उमा के वाक्य से जाना। अर्थात् ज्ञान का हेतु विद्या अर्थात् उपनिषद् वाक्य ही है। ।। १।।*

तस्माद्वा एते देवा अतितरामिवान्यान्देवान्यदग्निर्वायु-रिन्द्रास्ते ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पृशुस्ते ह्येनत्प्रथमो विदांचकार ब्रह्मेति।। २।। *इसलिए ही ये देवता, अग्नि, वायु और इन्द्र, अन्य देवताओं से श्रेष्ठ हुए, क्योंकि वे ही इसे नजदीक से स्पर्श किया (कथन आदि से संबन्ध बनाये) और पहले जाना कि यह ब्रह्म (ईश्वर) है।। २।।*

तस्माद्वा इन्द्रोऽतितरामिवान्यान्देवान्स ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्श स ह्येनत्प्रथमो विदांचकार ब्रह्मेति।। ३।।

इसलिए ही इन्द्र अन्य देवताओं से श्रेष्ठ हुआ, क्योंकि वह इसे नजदीक से स्पर्श किया, वह ही इसे पहले जाना कि यह ईश्वर है।। ३।।

यस्मादग्निवाय्विन्द्रा एते देवा ब्रह्मणः संवाददर्शनादिना सामीप्यमुप-गतास्तस्मादैश्वर्यगुणैरतितरामिव शक्तिगुणादिमहाभागैरन्यान्देवानतितरामति-

शयेन शेरत इवैते देवाः। *जिस कारण अग्नि, वायु और इन्द्र ये तीनों देवता ईश्वर के साथ संवाद, दर्शन आदि से उसकी निकटता को प्राप्त की इससे ऐश्वर्य और गुणों से अर्थात् शक्ति तथा गुणों की महानता से अन्य देवताओं से श्रेष्ठ हुए। (शेरते - वर्तन्ते अत्यधिक उत्कृष्ट होते हैं यह अर्थ है)* **इवशब्दोऽनर्थकोऽवधारणार्थो वा। यदग्निर्वायुन्द्रिस्ते हि देवा यस्मादेनद्‌ब्रह्म नेदिष्ठमन्तिकतमं प्रियतमं पस्पृशुः स्पृष्टवन्तो यथोक्तैर्ब्रह्मणः संवादादिप्रकारैस्ते हि यस्माच्च हेतोरेनद्‌ब्रह्म प्रथमः प्रथमाः प्रधानाः सन्त इत्येतद्विदांचकार विदांचक्रुरित्यतद्‌ब्रह्मेति।। २।।** *इव शब्द अनर्थक निपात है अथवा निश्चयार्थक है। क्योंकि अग्नि वायु और इन्द्र, वे देवता इस ब्रह्म को कहे गये संवाद आदि प्रकार से अत्यन्त निकटतम प्रियतम रूपसे स्पर्श किया था, और प्रधान हो कर इस यक्ष को जाना था कि यह ईश्वर है।। २।।*

यस्मादग्निवायू अपीन्द्रवाक्यादेव विदांचक्रतुरिन्द्रेण ह्युमावाक्या-त्प्रथमं श्रुतं ब्रह्मेत्यतस्तस्माद्वा इन्द्रोऽतितरामतिशयेन शेरत इवान्यान्दे-वान्स ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्श यस्मात्स ह्येनत्प्रथमो विदांचकार ब्रह्मेत्युक्तार्थं वाक्यम्।। ३।। *क्योंकि अग्नि और वायु भी इन्द्र के वाक्य से जाना किन्तु इन्द्र उमा के वाक्य से प्रथम सुना कि यह ब्रह्म है, इसलिए इन्द्र अन्य देवताओं से अत्यन्त श्रेष्ठ है। उस इन्द्र ने निश्चय रूप से ईश्वर का निकटतम स्पर्श किया, क्योंकि वह प्रथम जाना कि यह यक्ष ब्रह्म है। वाकी के वाक्यों का अर्थ कहे आये हैं।। ३।।*

तस्यैष आदेशो यदेतद्विद्युतो व्यद्युतदा३ इतीन्न्यमीमिषदा३ इत्यधिदैवतम्।। ४।। *उस ईश्वर की उपासना संबन्धि यह उपदेश है अर्थात् उपमा के द्वारा उपदेश है। जैसे विजली की चमक या पलकों की झपक।। ४।।*

तस्य प्रकृतस्य ब्रह्मण एष आदेश उपमोपदेशो निरूपमस्य ब्रह्मणो

येनोपमानेनोपदेशः सोऽयमादेश इत्युच्यते। *प्रसंग से प्राप्त उस ब्रह्म का यह आदेश है अर्थात् उपमा के द्वारा उपदेश है। क्योंकि निरूपम ब्रह्म का जिस उपमा के द्वारा उपदेश होता है वह आदेश कहा जाता है।* **किं तद्यदेतत्प्रसिद्धं लोके विद्युतो व्यद्युतद्विद्योतनं कृतवदित्येतदनुपपन्नमिति।** *वह आदेश क्या है? जो विजली का चमकना इस लोक में प्रसिद्ध है। विद्युतो व्यदुतद् अर्थात् विजली से प्रकाशित किया यह अर्थ युक्ति संगत नहीं है।*
टीका – ब्रह्म ने विद्युत के द्वारा विद्योतन किया (ऐसा जो मानते हैं) यह युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि स्वयंज्योति होने से पराधीन प्रकाश की प्राप्ति नहीं है, ब्रह्म ने विद्युत् संबन्धी द्योतन किया यह अर्थ भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि अन्य आश्रय विद्योतन का अन्य कर्तृक संभव युक्तियुक्त न होने से मंत्र में जैसा सुना गया है वह असंभव होने से दूसरा तात्पर्य कहना चाहिए। **विद्युतो विद्योतनमिति कल्प्यते। आ इत्युपमार्थे विद्युतो विद्योतनमिवेत्यर्थः। यथा 'सकृद्विद्युतम्' इति श्रुत्यन्तरे च दर्शनाद्विद्युदिव हि सकृदात्मानं दर्शयित्वा तिरोभूतं ब्रह्म देवेभ्यः। अथवा विद्युतस्तेज इत्यध्याहार्यम्। व्यद्युतद्विद्योतितवत्, आ इव। विद्युतस्तेजः सकृद्विद्योतितव-दिवेत्यभिप्रायः।** *विद्युत का प्रकाश इस प्रकार कल्पना की जाती है। आ यह उपमा के अर्थ में है। विजली चमकने के समान यह अर्थ है। जैसे अन्य श्रुति में 'एक बार विद्युतम्' इस प्रकार का प्रयोग देखने को मिलता है, विजली के जैसा एक बार अपना स्वरूप को दिखा कर ब्रह्म देवताओं से तिरोभूत हो गया था। अथवा विद्युत का तेज इस प्रकार तेज शब्द का अध्याहार (निवेश) करना चाहिए। विजली का प्रकाश जैसा। आ का अर्थ है इव (जैसा)। विजली का चमक एक बार चमकता जैसा यह अभिप्राय है।* **इतिशब्द आदेशप्रतिनिर्देशार्थ इत्ययमादेश इति।**
टीका – प्रतिनिर्देशार्थ का मतलब परामर्श के लिए। **इच्छब्दः समुच्चयार्थः। अयं चापरस्तस्याऽऽदेशः। कोऽसौ। न्यमीमिषत्। यथा चक्षुर्न्यमीमिषन्निमेषं कृतवत्। स्वार्थे णिच्। उपमार्थ एवाऽऽकारः। चक्षुषो विषयं प्रति प्रकाश-तिरोभाव इव चेत्यर्थः। इत्यधिदैवतं देवताविषयं ब्रह्मण उपमानदर्शनम्।।**

४।। *मूल में इति इत् न्यमीमिषत् – यहाँ इति शब्द आदेश के प्रति निर्देश है अर्थात् इस प्रकार परामर्श करना चाहिए। इत् शब्द का अर्थ समुच्चय है। अर्थात् यह उसका दूसरा आदेश है। दूसरा आदेश क्या है ? न्यमीमिषत्। जैसे आँख ने निमेष किया। अर्थात् जैसे आंख का निमेष क्रिया एक क्षण के लिए होता है। स्वार्थ में णिच् प्रत्यय हुआ है। आ-कार उपमा अर्थ में प्रयोग हुआ है। चक्षु के विषय के प्रति प्रकाश और तिरोभाव (आँख खुलना और बन्द हो जाना) जैसा अर्थ भी है। यह अधिदैवत है अर्थात् देवता को विषय करने वाला ब्रह्म का उपमा द्वारा ज्ञान।। ४।।*

टीका- चक्षु का निमेषण शीघ्र होता है, यह प्रसिद्ध है, वैसा सृष्टि आदि में ईश्वर के लिए प्रतिबन्ध के अभाव के कारण ईश्वर का शीघ्र (सृष्टि) करने का सामर्थ्य अधिदैवत है। जो ध्येय ब्रह्म अर्थात् ध्यान योग्य ईश्वर है, वह जैसा विजली का प्रकाश एक साथ विश्व व्यापक है, वैसा निरतिशय ज्योतिस्वरूप ईश्वर समस्त सृष्टि आदि के शीघ्र कारक है, परम ऐश्वर्य से सम्पन्न है, इस प्रकार उपमा-उपदेश द्वारा कहा गया है।। ४।।

अथाध्यात्मं यदेतद्गच्छतीव च मनोऽनेन चैतदुपस्म-रत्यभीक्ष्णँ्संकल्पः।। ५।। *अब अध्यात्म का उपदेश कहते हैं। यह जो मेरा मन ईश्वर के प्रति जाता हुआ चिन्तन करें, ऐसा जो उपदेश है वह अध्यात्म आदेश है। बार बार मन का ब्रह्म विषयक संकल्प, इस प्रकार ध्यान करने से अन्तरात्म रूप ब्रह्म कि अभिव्यक्ति होती है।। ५।।*

टीका- अब प्रत्यक् आत्मा रूप से ब्रह्म का जैसी अभिव्यक्ति हो सकता है वैसा उपदेश करते हैं। इस पर कहते हैं- **अथानन्तरमध्यात्मं प्रत्यगात्मविषय आदेश उच्यते। यदेतद्गच्छतीव च मन एतद्ब्रह्म ढौकत इव विषयी करोतीव यथाऽनेन मनसैतद्ब्रह्मोपस्मरति समीपतः स्मरति साधकोऽभीक्ष्णं संकल्पश्च मनसो ब्रह्मविषयो** *अब अध्यात्म अर्थात् पत्यक्*

आत्मा को विषय करने वाला आदेश (उपदेश) कहा जाता है। यह जो मन जाता हुआ सा, इस ब्रह्म की ओर जाता हुआ सा प्रतीत होता है (ढौकृ गत्यर्थक धातु है) मानो ब्रह्म को विषय करता हुआ सा प्रतीत होता है। इस मन से यह ब्रह्म उप स्मरति अर्थात् साधक समीप से स्मरण करता है, अभीक्ष्णं अर्थात् मन का बार बार ब्रह्म को विषय करने वाला संकल्प– टीका – यह प्रसंग प्राप्त ज्योति स्वरूप ब्रह्म की ओर मेरा मन जा रहा है ऐसा चिन्तन करें, इस प्रकार जो उपदेश वह आत्यात्मिक उपदेश है। अभीक्ष्णं अर्थात् बार बार मेरे मन का ब्रह्म विषयक संकल्प हि ध्यान करने वाले को प्रत्यक् आत्मा स्वरूप ब्रह्म की अभिव्यक्ति होती है इस पर कहते हैं– **मनउपाधिकत्वाद्धि मनसः संकल्पस्मृत्यादिप्रत्ययैर–भिव्यज्यते ब्रह्मविषयीक्रियमाणमिव चातः स एष ब्रह्मणोऽध्यात्ममादेशो विद्युन्निमेषणवदधिदैवतं द्रुतं प्रकाशनधर्म्यध्यात्मं च मनः प्रत्ययसमकालाभि–व्यक्तिधर्मीत्येष आदेशः।** *मन उपाधि वाला होने से, मनके संकल्प और स्मृति आदि प्रत्ययों से ब्रह्म को विषय करता हुआ सा ब्रह्म अभिव्यक्त होता है। वह यह ब्रह्म का अध्यात्म आदेश है। विजली और निमेषण के समान ब्रह्म शीघ्र कार्य करने वाला है यह अधिदैवत आदेश है। और शीघ्र प्रकाशन धर्म यह अध्यात्म आदेश है। अर्थात् मन, प्रत्यय के समकाल ही अभिव्यक्ति धर्मवाला है, यह आदेश है।* **एवमादिश्यमानं हि ब्रह्म मन्दबुद्धिगम्यं भवतीति ब्रह्मण आदेशोपदेशः। न हि निरुपाधिकमेव ब्रह्म मन्दबुद्धिभिराकलयितुं शक्यम्।। ५।।** *इस प्रकार बतलाए जाने पर ब्रह्म हि मन्दबुद्धि से समझाा जा सकता है, ब्रह्म का आदेश अर्थात् उपदेश है। निरुपाधिक ब्रह्म मन्दबुद्धि वालों से नहीं समझा जा सकता।। ५।।*

तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यं स य एतदेवं वेदाभि हैनं सर्वाणि भूतानि संवांछन्ति।। ६।। *वह ब्रह्म तद्वन नाम वाला है। उसे तद्वन रूप से उपासना करनी चाहिए। जो कोई इस ब्रह्म*

(ईश्वर) को तद्वन रूप से उपासना करता है, सभी प्राणी उससे प्रार्थना करते हैं।। ६ ।।

किंच तद्ब्रह्म ह किल तद्वनं नाम तस्य वनं तद्वनं तस्य प्राणि-जातस्य प्रत्यागात्मभूतत्वाद्वननीयं संभाजनीयमतस्तद्वनं नाम प्रख्यातं ब्रह्म तद्वनमिति यतस्तस्मात्तद्वनमित्यनेनैव गुणाभिधानेनोपासितव्यं चिन्तनीय-मिति। अनेन नाम्नोपासकस्य फलमाह स यः कश्चिदेतद्यथोक्तं ब्रह्मैवं यथोक्तगुणं वेदोपास्तेऽभि हैनमुपासकं सर्वाणि भूतान्यभिसंवांछन्ति ह प्रार्थयन्त एव यथा ब्रह्म।। ६ ।। *और भी वह ब्रह्म तद्वन नाम से प्रसिद्ध है। तस्य वनं तद्वन इस प्रकार षष्ठी तत्पुरुष समास है। उस प्राणी समूह का प्रत्यक् आत्मा होने से वननीय अर्थात् आराधनीय या पूजनीय है, इसलिए तद्वन नाम है। जिसलिए ब्रह्म तद्वन नाम से प्रख्यात है, इसलिए तद्वन इस प्रकार गुण को अभिव्यक्त करने वाले नाम से ब्रह्म (ईश्वर) की उपासना करनी चाहिए, अर्थात् चिन्तन करना चाहिए। इस नाम उपासक का फल कहते हैं- जो कोई यथोक्त ईश्वर को यथोक्त गुणों से उपासना करता है, उस उपासक को सभी ओर से प्राणी अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिए प्रार्थना करते हैं, जैसे ईश्वर से सभी प्रार्थना करते है।। ६ ।। (जैसे ईश्वर की प्रार्थना करने से अभिष्ट फल की प्राप्ति होती है वैसे उस उपासक (भक्त सन्त) से प्रार्थना करने पर अभिष्ट वस्तु की प्राप्ति होती है। इसलिए सन्तों की सेवा से समस्त अभिष्ट वस्तु की प्राप्ति देखी गयी है।)*

उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता त उपनिषद्ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रूमेति।। ७ ।। *उत्तम अधिकारी कहता है- हे भगवन्! आप मुझे उपनिषत् (रहस्य) कहिए। गुरुजी ने कहा- ब्राह्मी अर्थात् परमात्मा संबन्धी रहस्य को तुझे कह चुका हूँ।*

टीका- सगुण ब्रह्म की उपासना ऐश्वर्य फल देता है यह कहा गया। ऐश्वर्य से विरक्त उत्तम अधिकारी परम रहस्य को पूछता है, इस पर कहते हैं- **उपनिषदं रहस्यं यच्चिन्त्यं भो भगवन्ब्रूहीत्येवमुक्तवति शिष्य आहाऽऽचार्यः। उक्ताऽभिहिता ते तवोपनिषत्। का पुनः सेत्याह - ब्राह्मीं**

ब्रह्मणः परमात्मन इयं तां परमात्मविषयत्वादतीतविज्ञानस्य वावैव त उपनिषदमब्रूमेत्युक्तमेव परमात्मविद्यामुपनिषदमब्रूमेत्यवधारयत्युत्तरार्थम्। *हे पूज्य आचार्य! उपनिषत् अर्थात् रहस्य जिसका चिन्तन करना चाहिए, उसे कहिए, इस प्रकार शिष्य के पूछने पर आचार्य ने कहा। तुझे उपनिषत् तो कहा है। वह क्या है, इस पर कहते हैं- अतीत विज्ञान, परमात्मा को विषय करने से निश्चित रूप से वह उपनिषत् अर्थात् रहस्य ही है। उस परमात्मा को विषय करने वाला रहस्य हमने तुम से कहा है। आगे के ग्रन्थ को बताने के लिए, कहा है, इस प्रकार निश्चय कराते हैं।* **टीका**- श्रोत्रस्य श्रोत्र इत्यादि से कहे गये परम-रहस्य आगे के ग्रन्थ द्वारा विद्या प्राप्ति के उपाय विधान के लिए, कहे गये विद्या फल देने में किसी की अपेक्षा नहीं रखती है इसे निश्चय कराते हैं। प्रतिवचन (उत्तर) निश्चयार्थक है इसे शंका के द्वारा स्पष्ट करते हैं- **परमात्म-विषयामुपनिषद् श्रुतवत उपनिषदं भो ब्रूहीति पृच्छतः शिष्यस्य कोऽभि-प्रायः।** *परमात्मा को विषय करने वाला रहस्य को सुन चुके शिष्य का, हे आचार्य उपनिषत् मुझे कहो, इस प्रकार शिष्यका क्या अभिप्राय है?* **यदि तावच्छ्रुतस्यार्थस्य प्रश्नः कृतस्ततः पिष्टपेषणवत्पुनरुक्तोऽनर्थकः प्रश्नः स्यादथ सावशेषोक्तोपनिषत्स्यात्ततस्तस्याः फलवचनेनोपसंहारो न युक्तः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्तीति। तस्मादुक्तोपनिषच्छेष विषयोऽपि प्रश्नो-ऽनुपपन्न एवानवशेषितत्वात्।** *यदि सुने हुए अर्थ का फिर प्रश्न किया है, पीसा हुआ को पीसने के सदृश दुबारा कहना अनर्थक प्रश्न होगा। यदि उपनिषत् सावशेष (अधूरा) कहा गया तब उसका ' इस लोक से जा कर वे अमृत हो जाते हैं' इस प्रकार फल का कथन से उपसंहार ठीक नहीं होगा। इसलिए कहे गये उपनिषद् का शेष विषयक प्रश्न भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि कुछ कहने के लिए बाकी रहा ही नहीं था।*

कस्तर्ह्यभिप्रायः प्रष्टुरित्युच्यते। किं पूर्वोक्तोपनिषच्छेषतया तत्सहका-रिसाधनान्तरापेक्षा। अथ निरपेक्षैव। सापेक्षा चेदपेक्षितविषयामुपनिषदं ब्रूहि। अथ निरपेक्षा चेदवधारय पिप्पलादवन्नातः परमस्तीत्येयमभिप्रायः। *तो*

पूछने बाले का अभिप्राय क्या है, इस पर कहते हैं। क्या कहे गये उपनिषद् के शेष (अंग) रूप से, उसके सहकारी अन्य साधनों की अपेक्षा है? अथवा अपेक्षा नहीं है? यदि अपेक्षा है तो अपेक्षित विषय उपनिषद् कहिए। अपेक्षा नहीं है तो पिप्पलाद ऋषि के समान 'इस के बाद और कुछ कहने को नहीं है' इस प्रकार निश्चय करके कहिए।

टीका– क्या पूर्वोक्त उपनिषद् के शेष (अंग) रूप में, अन्य किसी की अपेक्षा है? शेष शब्द से (दर्श के लिए प्रयाजादि के समान) फल के उपकारी अंग विवक्षित है। सहकारी शब्द से जो गौण नहीं है वह समुच्चय के योग्य है, यह विवक्षित है।

टीका– इस प्रकार शिष्य के अभिप्राय का वर्णन कर उसका समाधान कहते हैं– **एतदुपपन्नमाचार्यस्यावधारणवचनमुक्ता त उपनिषदिति।** *'आपको उपनिषद् कह चुका हूँ' इस प्रकार आचार्य का निश्चयात्मक कथन युक्तियुक्त है।* **ननु नावधारणमिदं, यतोऽन्यद्वक्तव्यमित्याह तस्यै तपो दम इत्यादि?** *शंका– यह निश्चय नहीं है क्योंकि आगे 'उसके लिए तप दम आदि' से कुछ कहना बाकी है?* **सत्यं वक्तव्यमुच्यत आचार्येण नतूक्तोपनिषच्छेषतया तत्सकारिसाधनान्तराभिप्रायेण वा।** *ठीक है। आचार्य ने कुछ कहने योग्य आगे कहा है, किन्तु उपनिषद् के शेष (अंग) रूप से अथवा उसके सहकारि अन्य साधन अभिप्राय से नहीं।* **किन्तु ब्रह्मविद्याप्राप्त्युपायाभिप्रायेण वेदैस्तदंगैश्च सह पाठेन समीकरणात्तपः प्रभृतीनाम्।** *किन्तु ब्रह्मविद्या की प्राप्ति का उपाय बताने के अभिप्राय से, क्योंकि तप आदि का वेद और उसके अंगों के साथ पाठ द्वारा समीकरण हुआ है।* **न हि वेदानां शिक्षाद्यंगानां च साक्षाद्ब्रह्मविद्याशेषत्वं तत्सहकारि साधनत्वं वा।** *वेद और उसके अंग शिक्षा कल्प व्याकरण आदि साक्षात् ब्रह्मविद्या के शेष अथवा उसके सहकारी साधन नहीं हो सकते।* **टीका**– विद्या अंग से रहित साथ साथ पाठ होने से तप आदि का विद्या का अंग होना नहीं हो सकता है, यह कहा गया। वहाँ योग्यता को लेकर शेषशेषी भाव नहीं हो सकता यह भाव है। फिर सहपाठ

निरर्थक है ऐसी शंका करते हैं- **सहपठितानामपि यथायोग्यं विभज्य विनियोगः स्यादिति चेद्यथा सूक्तवाकानुमन्त्राणां यथादैवतं विभागस्तथा तपोदमकर्मसत्यादीनां ब्रह्मविद्याशेषत्वं तत्सहकारिसाधनत्व वेति कल्प्यते। वेदानां तदङ्गानां चार्थप्रकाशकत्वेन कर्मात्मज्ञानोपायत्वमित्येवं ह्ययं विभागो युज्यतेऽर्थसंबन्धोपपत्तिसामर्थ्यादिति चेत्।** *शंका- साथ साथ जिनका पाठ हुआ है उनका यथायोग्य विभाग करके विनियोग होना चाहिए। जैसे सूक्तवाक् और अनुमन्त्रणों का देवता के अनुसार विभाग होता है, वैसे तप, दम, कर्म, सत्य आदि का ब्रह्मविद्या शेषता अथवा उसके सहकारि साधनता की कल्पना करनी चाहिए। वेदों का और उनके अंगों का अर्थ के प्रकाशन के द्वारा कर्म, आत्माज्ञान का उपाय है, इस प्रकार अर्थो का यथायोग्य संबन्ध उपपत्ति (युक्ति) से होता है इस सामर्थ्य (न्याय) से यह विभाग युक्तियुक्त होता है।* **टीका** - **'अग्निरिदं हविरजुषतावीवृधत महो ज्यायोऽकृत्। अग्नीषोमाविदं हविरजुषेतामवीवृधेतां महो ज्यायोऽक्राताम्'** इत्यादि सूक्तवाक् से समस्त याग की समाप्ति पर देवता का विसर्जन किया जाता है। वहाँ पर इस सूक्तवाक् में अनेक देवता का पाठ देखा जाता है, फिर भी जिस याग में जिस देवता का आवाहन हुआ है, उसके विसर्जन में योग्यता के कारण इस सूक्तवाक् का जैसे विनियोग होता है, वैसे तप आदि का विद्या के शेष रूप से विनियोग हो सकता है। यह अर्थ है।

टीका- सूक्त वाक्य का विनियोग हो सकता है,क्योंकि वहाँ योग्यता संभव है, किन्तु कर्मों का विद्या से विरोध होने से योग्यता के असंभव होने से विनियोग नहीं हो सकता है। इस पर कहते हैं- **नायुक्तेः। न ह्ययं विभागो घटनां प्रांचति। न हि सर्वक्रियाकारकफल-भेदबुद्धितिरस्कारिण्या ब्रह्मविद्यायाः शेषापेक्षा सहकारिसाधनसंबन्धो वा युज्यते।** *तप आदि ब्रह्मविद्या का शेष या उसके सहकारी नहीं हो सकते क्योंकि युक्तियुक्त नहीं है। यह विभाग प्रसंग के अनुकूल नहीं है। समस्त क्रिया, कारक, फल आदि भेदबुद्धि के तिरस्कार करने वाली ब्रह्मविद्या*

का शेष की अपेक्षा या सहकारी साधन का संबन्ध बतलाना उचित नहीं है।

टीका– विद्या की विषयपर्यालोचना और फलपर्यालोचना से तत्त्व के साथ (श्रुति और युक्ति से) संबन्ध की योग्यता नहीं है अपितु विद्या में कर्मों का उपयोग न होने से मुमुक्षु के लिए कर्मों का त्याग ही कर्तव्य है, इसे कहते हैं– **सर्वविषय व्यावृत्तप्रत्यगात्मविषयनिष्ठत्वाच्च ब्रह्मविद्याया-स्तत्फलस्य च निःश्रेयसस्य, 'मोक्षमिच्छन्सदा कर्म त्यजेदेव ससाधनम्। त्यजतैव हि तज्ज्ञेयं त्यक्तुः प्रत्यक्परं पदम्'।।** *ब्रह्मविद्या और उसका फल निःश्रेयस (मोक्ष) का समस्त विषयों से अलग प्रत्यक् आत्मा को विषय करने वाली निष्ठा होने से किसी तप आदि की अपेक्षा नहीं है। स्मृति में कहा है कि 'मोक्ष की इच्छा रखने वाला, सदा के लिए साधनों के सहित कर्मों का त्याग करे। त्याग से ही त्यागी को, प्रत्यक् परम पद का ज्ञान होता है।* **टीका**– समस्त उत्पाद्य आदि कर्म के विषयों से व्यावृत्त जो प्रत्यक् आत्मा, वह इस प्रकार ब्रह्म रूप से, विद्या द्वारा कर्म आदियों से व्यावर्तक विषय है, विद्या और उसका फल तन्निष्ठ होने से अर्थात् आत्मनिष्ठ होने से कर्मों के फल से उसकी विलक्षणता है।। ७।।
(श्रेयस्– अतिशयेन प्रशस्यं, इयसुन्, अधिक मंगल कारक। निःश्रेयस्– नितरां श्रेयस् निश्रेयस् पूर्ण रूप से अधिक मंगल कारक। अभ्युदयनिःश्रेयस – भोग और मोक्ष। प्रेय और श्रेय।)

तस्मात्कर्मणां सहकारित्वं कर्मशेषापेक्षा वा न ज्ञानस्योपपद्यते। ततोऽसदेव सूक्तवाकानुमन्त्रणवद्यथायोगं विभाग इति। तस्मादवधारणा-र्थतैव प्रश्नप्रतिवचनस्योपपद्यते। एतावत्येवेयमुपनिषदुक्ताऽन्यनिरपेक्षाऽमृ-तत्वाय।। ७।। *इसलिए ज्ञान को कर्मों का सहकारी या कर्मशेष की अपेक्षा नहीं है। इससे सूक्तवाक् अनुमंत्रण के समान यथायोग विभाग इस प्रकार कहना असत् ही है (ठीक नहीं है)। इसलिए प्रश्न और प्रतिवचन (उत्तर) का निश्चय अर्थ बनता है। अमृतत्व की प्राप्ति के*

लिए किसी और की अपेक्षा नहीं है, इतना ही यह उपनिषत् (रहस्य) है, जो मैंने तुझे कहा है।। ७।।

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वाङ्गानि(णि) सत्यमायतनम्।। ८।। *जो ब्रह्म संबन्धी उपनिषद् मैंने तुझे कहा उसके लिए तपस्या, इन्द्रियों का दमन, और वैदिक कर्म प्रतिष्ठा अर्थात् पाद है। वेद, शिर आदि समस्त अंग है। सत्य उसका आयतन (रहने का स्थान) है।। ८।।*

टीका– तत् शब्द को अपेक्षित यत् शब्द का पूरण करते हैं– **यामिमां ब्राह्मीमुपनिषदं तवाग्रेऽब्रूमेति, तस्यै तस्या उक्ताया उपनिषदः प्राप्त्युपायभूतानि तपआदीनि।** *जो मैंने ब्रह्म संबन्धी उपनिषत् (रहस्य) तुझसे कहा है, उसके लिए अर्थात् कहे गये उपनिषत् प्राप्ति के उपाय रूप तप आदि हैं।* **टीका–** इमां– प्राप्त सगुण विषयक और निर्गुण ब्रह्म विषयक यह अर्थ है। **तपः कायेन्द्रियमनसां समाधानम्। दम उपशमः। कर्माग्निहोत्रादि।** *शरीर, इन्द्रिय और मन का समाधान अर्थात् इनको समाहित करना यह तप है। दम अर्थात् उपरति, अर्थात् संसार से उपराम होना यह दम है। अग्निहोत्र आदि कर्म है।* **एतैर्हि संस्कृतस्य सत्त्वशुद्धिद्वारा तत्त्वज्ञानोत्पत्तिर्दृष्टा ह्यमृदितकल्मषस्योक्तेऽपि ब्रह्मण्यप्रति-पत्तिर्विपरीतप्रतिपत्तिश्च यथेन्द्रविरोचनप्रभृतीनाम्।** *इन से संस्कृत साधक को अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति देखी गयी है। जिसका कषाय (पाप) नष्ट नहीं हुआ है उसे उपदेश देने पर भी या तो ज्ञान नहीं होता या विपरीत ज्ञान होता है। जैसे इन्द्र और विरोचन में देखा गया है।* **तस्मादिह वाऽतीतेषु वा बहुषु जन्मान्तरेषु तपआदिभिः कृतसत्त्वशुद्धेर्ज्ञानं समुत्पद्यते यथाश्रुतम्।** *इसलिए इस जन्म में अथवा अतीत अनेक जन्मों में तप आदि से किया गया अन्तःकरण की शुद्धि से यथाश्रुत (आचार्य से जैसा सुना है वैसा) ज्ञान उत्पन्न होता है।* **'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः'।। इति मंत्रवर्णात्।** *श्वेताश्वतर उपनिषद में कहा है कि*

जिसकी इष्ट देव में परा भक्ति है और जैसे ईश्वर में वैसे अपने गुरुदेव में भक्ति है, उस महात्मा के लिए उपनिषद में कहे गये अर्थ प्रकाशित होते हैं अन्यथा नहीं। (यहाँ महात्मा शब्द का अर्थ है कि जो कषाय अर्थात् पापों से रहित है।) **'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः' इति स्मृतेः।** *स्मृति में कहा है कि पाप कर्मों के क्षय होने पर पुरुषों को ज्ञान उत्पन्न होता है।* **इतिशब्द उपलक्षणप्रदर्शनार्थः। इत्येवमाद्यन्यदपि ज्ञानोत्पत्तेरुपका-रकममानित्वमदम्भित्वमित्याद्युपदर्शितं भवति।** *मंत्र में कर्मेति में जो इति शब्द है वह उपलक्षण प्रदर्शन के लिए है। अर्थात् ऐसे ज्ञान उत्पत्ति के अन्य उपकारक अमानित्व, अदंभित्व इत्यादि प्रदर्शित हो जाते हैं।* **प्रतिष्ठा पादौ पादाविवास्यास्तेषु हि सत्सु प्रतितिष्ठति ब्रह्मविद्या प्रवर्तते पद्भ्यामिव पुरुषः।** *प्रतिष्ठा अर्थात् इसके पाद। पाद के होने से ही ब्रह्मविद्या प्रतिष्ठित होती है जैसे पुरुष पैरों से प्रवृत्त होता है।* **वेदाश्चत्वारः सर्वाणि चाङ्गानि शिक्षादीनि षट्कर्मज्ञानप्रकाशकत्वाद्वेदानां तद्रक्षणार्थत्वादङ्गानां प्रतिष्ठात्वम्।** *कर्म और ज्ञान के प्रकाशक होने से चार वेद में, तथा वेदों की रक्षा के लिए उनके शिक्षा आदि छः अंगों में प्रतिष्ठात्व है। अर्थात् प्रतिष्ठा शब्द का प्रयोग उचित है।* **अथवा प्रतिष्ठाशब्दस्य पादरुपकल्पनार्थत्वाद्वेदास्त्वितराणि सर्वांगानि शिरआदीनि।** *अथवा प्रतिष्ठा शब्द का पाद रूप कल्पना अर्थ होने से वेद, दूसरे शिर आदि अंग है।* टीका – प्रसिद्ध पाद समानता कल्पित होने से दूसरे अंगों की भी कल्पना करनी चाहिए, यह अर्थ है। **अस्मिन्पक्षे शिक्षादीनां वेदग्रहणेनैव ग्रहणं कृतं प्रत्येतव्यम्। अंगिनि गृहीतेऽङ्गानिगृहीतान्येव भवति। तदायतनत्वादंगानाम्।** *इस पक्ष में वेद के ग्रहण से शिक्षा आदि का ग्रहण समझना चाहिए। क्योंकि अंगी के ग्रहण से अंगों का ग्रहण हो जाता है। क्योंकि अंग, अंगी के अधीन होते हैं।* **सत्यमायतनं यत्र तिष्ठ-त्युपनिषत्तदायतनं सत्यमिति।** *सत्य आयतन है अर्थात् जहाँ उपनिषत् रहती है, वह आयतन सत्य है।* **अमायिताऽकौटिल्यं वाङ्मनःकायानां तेषु ह्याश्रयति विद्या येऽमायाविनः साधवः। नासुरप्रकृतिषु मायाविषु। 'न येषु**

जिह्ममनृतं न माया' इति श्रुतेः। तस्मात्सत्यमायतनमिति कल्प्यते। *अमायिता अर्थात् वाणी, मन, और शरीर से कुटिलता का अभाव। जो मायावी नहीं है, ऐसे साधुओं में ब्रह्मविद्या आश्रय लेती है। जो असुर प्रकृति के मायावी लोग हैं उनमें ब्रह्मविद्या आश्रय नहीं लेती है, अर्थात् उन्हें ब्रह्मविद्या प्राप्त नहीं होती है। श्रुति में कहा है 'जिनमें कुटिलता, मिथ्या और माया नहीं है'। इसलिए सत्य को आयतन के रूप में कल्पना की जाती है।*

टीका– तस्यै तपो दमः कर्मेति यहां इति शब्द उपलक्षणार्थ होने से सत्य का भी अन्तर्भाव हो गया फिर अलग से सत्य को आयतन रूप में कैसे कह रहे हो, इस पर कहते हैं– **तप आदिष्वेव प्रतिष्ठात्वेन प्राप्तस्य सत्यस्य पुनरायतनत्वेन ग्रहणं साधनातिशयत्वज्ञापनार्थम्। 'अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्। अश्वमेधसहस्राच्च सत्यमेकं विशिष्यते। इति स्मृतेः।। ८।।** *तप आदि में प्रतिष्ठा रूप से सत्य का अन्तर्भाव हो जाने से फिर आयतन रूप से ग्रहण, साधन की अतिशयता दिखाने के लिए है। अर्थात् अन्य साधनों से सत्य सबसे अधिक महत्वपूर्ण साधन है। स्मृति में कहा है कि 'तराजू में एक तरफ हजारों अश्वमेध (यज्ञ के फल) और दूसरी ओर सत्य को रखने से, हजारों अश्वमेध से एक सत्य भारी पड़ता है'।। ८।।*

यो वा एतामेवं वेदापहत्य पाप्मानमनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति।। ९।। *जो कोई इस उपनिषत् को कहे गये प्रकार से जानता है, वह पापों से छूट कर अनन्त, श्रेष्ठ स्वर्ग लोक अर्थात् सुख रूप ब्रह्म में प्रतिष्ठित होता है। प्रतिष्ठित होता है।*

इति चतुर्थः खण्डः।। ४।।

टीका– सगुण विद्या का अर्थ क्रममुक्ति होने से, क्रम से प्राप्त होने वाला जो कैवल्यमुक्ति, वह निर्गुण ब्रह्मज्ञान का फल है, यह पहले ही कहा है, उसका अब उपसंहार करते हैं– **यो वा एतां ब्रह्मविद्यां केनेषितामित्यादिना यथोक्तामेवं महाभागां ब्रह्म ह देवेभ्य इत्यादिस्तुतां सर्व–**

विद्याप्रतिष्ठां वेदामृतत्वं हि विन्दत इत्युक्तमपि ब्रह्मविद्याफलमन्ते निगमयते अपहत्य पाप्मानमविद्याकामकर्मलक्षणं संसारबीजं विधूयानन्तेऽपर्यन्ते स्वर्गे लोके सुखात्मके ब्रह्मणीत्येतत्। अनन्त इति विशेषणान्न त्रिविष्टपे। अनन्तशब्द औपचारिकोऽपि स्यादित्यत आह ज्येय इति। ज्येये ज्यायसि सर्वमहत्तरे स्वात्मनि मुख्य एव प्रतितिष्ठति।। न पुनः संसारमापद्यत इत्यभिप्रायः।। ६।। *जो कोई 'केनेषित' इत्यादि मंत्रो द्वारा कहे गये प्रकार से, 'ब्रह्म ह देवेभ्य' इत्यादि मंत्रो द्वारा स्तुति की गयी, समस्त विद्यायों की प्रतिष्ठा रूप महा भाग्यशालिनी इस विद्या को जानता है, वह अमृतत्व को प्राप्त करता है, यह यद्यपि कहा गया है, फिर भी अन्त में ब्रह्मविद्या का फल का निगमन करते हैं। अर्थात् फल कथन से उपसंहार करते हैं। अपहत्य अर्थात् वह संसार के बीज अविद्या, काम, कर्म लक्षण वाले पापों से छूट कर अनन्त स्वर्ग लोक अर्थात् सुख स्वरूप ब्रह्म में प्रतिष्ठित होता है। अनन्त इस विशेषण से देवलोक नहीं। अनन्त शब्द औपचारिक है ऐसी शंका होने पर कहते हैं- ज्येये का भी विशेषण है। ज्येये अर्थात् सबसे महान् मुख्य आत्मा में प्रतिष्ठित होता है। फिर संसार को प्राप्त नहीं करता है।। ६।।*

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छंकरभगवत्पादकृतौ केनोपनिषद्पदभाष्ये चतुर्थः खण्डः।। ४।।

समाप्तमिदं श्रीमच्छंकराचार्यविरचितं तलवकारोपनिषदपरपर्याय केनोपानिषत्पदभाष्यम्।

योऽसौ सर्वेश्वरो विष्णुः सर्वात्मा सर्वदर्शनः।
शुद्धो बोधम्बुधिः साक्षात्सोऽहं नित्योऽभयः प्रभुः।।

इति श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्यरीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यश्रीमदानन्दज्ञानकृतौ श्रीमच्छांकरतलवकारोपनिदपरपर्यायकेनोपनिषत्पदभाष्यटिप्पणं संपूर्णम्।।

जो यह सबका ईश्वर, सर्वात्मा, सर्वज्ञ, शुद्ध, ज्ञान का समुद्र, नित्य, अभय, प्रभु विष्णु है,साक्षात् वह मैं हूँ।

इस प्रकार श्रीमत्परमहंस तपोनिष्ठ कैलास आश्रम के आचार्य, हरिहर तीर्थ के चरण सेवक श्रीविष्णुतीर्थ द्वारा केन उपनिषद के पदभाष्य के चतुर्थ खण्ड का हिन्दी रूपान्तर समाप्त हुआ।

दो शब्द

केनोपनिषत् सामवेदीय तलवकार ब्राह्मण के अन्तर्गत है। भगवान् भाष्य कार ने इस पर दो भाष्य लिखा है एक पद भाष्य और दूसरा वाक्य भाष्य। इस से इस उपनिषत् का विशेष महत्व प्रकट होता है। वाक्य भाष्य के प्रारंभ में आनन्द गिरि जी टीका में कहते हैं कि पदभाष्य लिखने के बाद भाष्यकार को सन्तोष नहीं हुआ। क्योंकि उसमें शारीरक शास्त्र के अनुकूल युक्तियों से निर्णय नहीं किया गया, इसलिए अब श्रुति के अर्थ का निरूपण करने वाले न्यायप्रधान वाक्यों से व्याख्या करने की इच्छा से वाक्य भाष्य का आरंभ करते हैं।

संस्कृत भाषा के अनभिज्ञ कुछ जिज्ञासु महात्मा तथा गृहस्थों को online यह उपनिषत् पढ़ाने के लिए मैंन यह हिन्दी अनुवाद किया है। भाष्य का संस्कृत तथा उसका अनुवाद है। किन्तु टीका का केवल हिन्दी अनुवाद ही दिया हूँ। भाष्य का एक एक वाक्य का हिन्दी अनुवाद किया हूँ तथा टीका नीचे न लिख कर भाष्य के साथ साथ दिया हूँ जिससे पढ़ने वालों के लिए समझना सहज हो जाएगा।

आशा करता हूँ इससे विद्यार्थिओ को लाभ होगा।

इत्योम्।